Nov-Dec 71 युद्धान्त

2.55

दो शब्द

मुझे खुशी है कि यह अंक आप तक विशेषांक के रूप में पहुंच सका। अंक कैसा लगा यह तो बिना बताये कैसे जान सकता हूं ? लेकिन इसे निकालना मुझे जरूर प्रीतिकर लगा। क्योंकि प्रथम तो सामग्री प्रेस में जाने का समय आ पहुंचा और कहीं से रचना न आयी। रचना आयेगी ऐसी आशा भी बंधना मुश्किल होता जा रहा था क्योंकि जिनसे आशायें थीं उनके पत्र आते जा रहे थे कि 'लिखा नहीं जाता।' 'कहना बहुत कुछ चाहता था, पर कहा नहीं जाता।' .....आदि, आदि। कुछ प्रेमियों ने कोरे कागज भी भेजे।.....मुझे लगा कि शायद इस बार मुखपृष्ठ पर 'विशेष विशेषांक' लिखकर भीतर सब कोरा ही भेजना पड़ेगा। इस ख्याल से कभी-कभी मन में एक विचित्र मजा सा भी मैं महसूस करता। परन्तु—

एक दिन अचानक अगेह भारती की खोपड़ी में कोई बंद द्वार खुला और स्मृतियां उभरने लगीं, जो कि भूली ही जा चुकी थीं। संस्मरण लिखे जाने लगे।.....बाद में प्रेमियों ने भी कुछ भेजा। कुछ ने इतना विलम्ब से भेजा कि उन्हें आप बाद के किन्हीं अंकों में देख सकेंगे।

इस अंक के सम्पादन में रजवन्त (छोटे भाई) ने इतना सहयोग दिया है कि अपना सम्पादन व उसका सहयोग कहूं या उसका सम्पादन और अपना सहयोग ? क्योंकि मेरे भी कुछेक संस्मरण उसने 'विशेषांक के लिये अनुपयुक्त' कहकर अलग कर दिये हैं।

अन्त में इस कामना के साथ कि लिखने में हम और भी असमर्थ, और भी असमर्थ होते चले जायं ताकि जल्दी ही हमारा 'विशेष विशेषांक' भी निकले।

अशेष प्रेम एवं आदर के साथ,

—अगेह भारती

भगवान श्री रजनीश
जन्म-दिवस-विशेषांक

युगान्तर

नवम्बर • दिसम्बर

१९७१

वर्ष - ३

अंक - ९ : १०
११ : १२

इस अंक का मूल्य : २-०० रु.
वार्षिक : १२-०० रु.

In this PDF, pages II and II are missing.

जादूगर

वह है कैसा प्यारा जादूगर !
कि कितने लोग अपने जीवन को बोझ समझकर
अपना अहंकार
जीवन के प्रति घृणा के भाव
और आंसू और जाने क्या-क्या
अपने सिर पर लेकर
उसके पास पहुंचते हैं
और वह है कि सब कुछ को
हंसता-हंसता स्वीकार कर लेता है.
अपनी बांहों में ले लेता है
और बांह पकड़कर आकाश की ओर
धक्का दे देता है
और वे आकाश में उड़ने लगते हैं
सभी कुछ पीछे छूट जाता है— बिलकुल
खाली, कोई पद चिन्ह नहीं.
सच,
आंसू, बन जाती है मुसकान,
घृणा, बन जाता है प्रेम,
अहंकार, शून्य
और सारा तनाव और बोझ
बन जाता है शांति ! विश्राम !!
—ऐसे जादूगर को मेरे शत् शत् प्रणाम !!!

—कु. भारती, जूनागढ़

०००

धन्यता-बोध

हम
कितने भाग्यवान हैं
इस समय जमीन पर होकर
और 'भगवान श्री' से मिलकर !!
सच रे अगेह !
हम कर कुछ नहीं रहे हैं
और पा बहुत कुछ रहे हैं !!
हे प्रभु !
तेरी अनुकम्पा अपार है !
तेरी अनुकम्पा अपार है !!

—मा योग भगवती
गोरे गांव, बंबई.

०००

वो जो भी हों

लोग कहते हैं
वे भगवान हैं, तीर्थंकर हैं, पैगम्बर हैं,
मसीहा हैं, ब्रह्मर्षि हैं, आदि···आदि,
हां, कुछ दूसरे लोग भी हैं
जो कहते हैं—'उनका आचरण भ्रष्ट है.'
वो क्या हैं ?— मैं अपनी सीमित बुद्धि से नहीं जान सकता, पर इतना अवश्य जानता हूं कि उन्होंने मुझे एक अलौकिक अवस्था में उतार दिया है, जहां से मंजिल साफ नजर आ रही है.
मुझे तो पूर्ण आशा है कि वह दिन दूर नहीं है
जब वह मुझ जैसे सब प्रकार से अयोग्य को भी चरम लक्ष्य पर पहुंचा देंगे ।
वो जो भी हों, मुझे प्रिय हैं.
वो जहां भी हों, उनके चरणों में मेरे शत्-शत् प्रणाम !!

—श्री नागेश्वर त्रिपाठी,
एम० एस-सी०,
नई दिल्ली.

०००

क्या भेंट करूं ?

देख रहा हूं
एक फूल
पूरा खिला हुआ
अलौकिक सुगंध में डूबा
अपने को लुटाता जा रहा है.

लुटाने का आनंद लूटने को, मैं भी
तड़पता हूं
पर लगता है
मेरी प्रार्थना अधूरी है
मंजिल अभी दूर है
शायद भटकना ही मेरा धर्म है अभी

फिर भी, मैं निराश नहीं हूं
किसी एकांत क्षण में
प्रेम की पगध्वनियां
मेरा पता खोज लेती हैं
कोई 'रजनीश' मेरे हृदय पर दस्तक दे देता है
कोई 'अगेह' मुझे पुकार लेता है
पर दुर्भाग्य है मेरा, कि
पुकार विस्मृत हो जाती है
एक कशिश पीछे छोड़कर

वह कशिश मेरे हृदय की है
और मेरा हृदय
वह तो तेरा ही है
क्या मेरी कशिश भी तेरी नहीं है ?
मेरा दुर्भाग्य तो
तू अपने सर मढ़ लेता है
लेकिन तेरा आनंद
मेरे लिए कोसों दूर है
हे प्रभो !

मेरी कलम भी अब रुक रही है
अथवा, कौन जाने
यह भी मेरा भ्रम हो
क्योंकि, भ्रमों को मैंने पाला है
और मेरी अकल में गड़बड़ हो गई है
लेकिन, अब निश्चित हो जाना चाहता हूं
अत:
अपनी सारी गड़बड़ तुझे भेंट करता हूं !

समीर के प्रणाम
अकोला

एक भाव

वो कौन है ! जो
रज ··· रज ··· निश ···· निश
आलिंगन करते रहे हैं, करते रहेंगे
बदन की वीणा
और क्षणों की धारा के प्रवाह में
वक्तव्य देते रहे हैं, देते रहेंगे
वाणी की वीणा
और मुलाकात ?
उनसे ?
मुलाकात भी होती रही है होती रहेगी
मंजिल की वीणा
वो रज-रज,
निश-निश
सबमें रजनीश समाया है
सब रजनीश में समाये हैं

स्वामी अनंत भारती
(धनसुख आचार्य)
पोरबंदर (गुज०)

०००

श्री रजनीश-महिमा

भगवान श्री के जन्म-दिवस पर
शिव विशेषांक निकालेगा
मालूम हुआ—
तो सोचा यह लिखूंगा, वह लिखूंगा,
बहुत कुछ लिखूंगा.
पर आज जब लिखने बैठा हूं
तो कुछ निकलता नहीं,
हां, कुछ नहीं निकलता—सिवा आंसुओं के,
और तुम, आंसुओं को कैसे
छापोगे मेरे प्यारे !
और फिर अनछपे को कौन पढ़ेगा !!
हे रजनीश !
तेरी महिमा अपार है !!

—स्वामी कृष्ण यशोधर,
पूना.

आत्म-स्वरूप को अल्पांजलि

समर्पण,
समर्पण,
समर्पण !
समर्पिता की कितनी गहरी विवशता !
क्या दूं ? कैसे लुटा दूं—सर्वस्व अपना !
कैसे कहूं कुछ मेरा !
आज जीवन की झोली टटोलती हूं, तो बार-बार वही-वही अनमोल रतन हाथ आते हैं जो बिना मांगे मीरा के प्रभु **रजनीश** ने मीरा की झोली में डाले हैं !
ओ ! गहरी श्वास, अगर तुम सचमुच मेरी हो तो अनंतगुनी होकर, अनंतकाल तक—उनके इशारे पर उनमें चल !

विवश—
मीरा के प्रणाम !
जूनागढ़.

प्रिय उपासकों से प्रार्थना

आनंद से नाचलो गा लो, रजनीश को पीने वालो.
ओ ! डूबकर जीने वालो, चुपचाप यों न जी लो.
आज कुछ लिखो — बोलो, किसी का बंद द्वार खोलो.
पल भर पत्थर को ढो लो या तिनके का सहारा हो लो.
किसी से किसी को न तौलो, खुद आसन से मत डोलो.
आह ! स्वयं के शून्य में से, कुछ तो सृजन कर लो.
जोत से जोत जगा लो, प्रेम की गंगा बहालो.
प्यारे **श्री रजनीश** से, प्रिय ! तनिक उऋण हो लो.

आप सबकी
मीरा के प्रणाम !
जूनागढ़

०००

उनके प्रेमियों से

ओ प्रेमी जनो !
भक्त बन उन्हें भगवान न बनाओ,
तुम खुद भगवान बन जाओ !
वे तो भगवान से भी आगे हैं !
उन्हें अपनी निजता में जीने दो.
रजनीश को विराट में फैलने दो !

—डॉ. आनंद निर्वाण के
प्रणाम !
जूनागढ़

०००

कैसे रजनीश कहूं हे मुनिवर
तुम दिनेश, प्रज्ञा के सागर

देखा फैला घन अन्धकार
अज्ञान, मोह और अनाचार
अनात्म, अविद्या का प्रसार
करुणा - उद्वेलित हो अपार

ले आये रत्न बहुमूल्य बहुत
मंथन कर ज्ञान का रत्नाकर
कैसे रजनीश कहूं हे मुनिवर
तुम दिनेश, प्रज्ञा के सागर

'करुणा, क्रान्ति' के उद्घोषक
'संभोग, समाधि' के उद्बोधक
आध्यात्म मार्ग के अन्वेषक
शिव, सुन्दर, सत्य के शुभ प्रेषक

हे सरस्वती के वरद पुत्र
अनुपम मेधावी तेजस्वर
कैसे रजनीश कहूं हे मुनिवर
तुम दिनेश, प्रज्ञा के सागर

क्या शब्द विलास,क्या वाणी में रस
क्या हिम्मत, क्या दुर्जय साहस
तुम मुनिवर वह अद्भुत पारस
मिट्टी को भी करदो कंचन बस

ज्ञान-उदधि में स्नान कराकर
राग, द्वेष, मद, मोह छुटाकर
कैसे रजनीश कहूं हे मुनिवर
तुम दिनेश, प्रज्ञा के सागर

शंकर सी मेधा, बुद्ध हृदय
ले निकले करने धर्म विजय
ऊर्जा प्राणों में भर दुर्जय
गन्तव्य मिलेगा ही निश्चय

खुल जायेंगे सब बन्द द्वार
आयेगा ऐसा स्वर्ण प्रहर
कैसे रजनीश कहूं हे मुनिवर
तुम दिनेश, प्रज्ञा के सागर

—श्री पद्म प्रकाश

०००

भगवान रजनीश के चरणों में

संचय करके अपना तप बल
बांट रहे हो अमृत अविरल
सत्य मुक्ति के पावन धाम
तुमको मेरे सतत प्रणाम

कोटि-कोटि अभिनंदन तेरा
'जन्म-दिवस' पर तुम्हें बधाई
सदा भटकते साधक जन को
तूने सच्ची राह दिखाई

कुछ लिखना तेरे बारे में
सूरज को दीप दिखाना है
टूटे - फूटे शब्द जोड़कर
अपना अज्ञान जताना है

शब्द नहीं अभिनंदन को
फिर भी अभिनंदन करता हूं
समझ नहीं औ' ज्ञान नहीं, पर
'प्रेम' हृदय से करता हूं.

आनंद वेदान्त के प्रणाम.
घंटाघर, नीमच (म० प्र०)

०००

००

प्रेम का एक और नाम है — 'तुम'
परमात्मा का भी एक नाम है — 'तू'

— रजवन्त, जबलपुर.

०००

अकुलाहट

क्या मजा है कि
जब प्रभो जबलपुर में थे
और उनका दर्शन इतना सुलभ था
तब मैं कितना अन्यमनस्क-सा था उनके
प्रति,
और अब
जबकि दरश इतने सुलभ नहीं हैं
तो कभी-कभी ऐसी प्यास जगती है
उनके चरणों में बैठ के रोने की
कि क्या कहूं ?
प्राण अकुला उठते हैं
नहीं जानता यह सब भी मन के ही फंदे हैं
अथवा अंतर की प्यास ?
यह अंतर अकुला रहा है
या मन ही अकुला रहा है ?
और ऐसे में श्री गोपाल नारायण मोहले के
प्रति,
प्रभु के ये वचन ही शांति दे पाते हैं—
".....बाहर न खोजें मुझे
वहां मैं मिलूं भी तो मिलन न हो सकेगा
खोजें भीतर
वहाँ न भी मिलूं तो भी मिलन हो सकेगा
स्वयं से मिले कि मुझसे मिले"

लाल प्रताप सिंह
भुड़हा, प्रतापगढ़ (उ० प्र०)

०००

निराले भेदक

आह !
वे सिर्फ भेदते हैं... भेदते हैं... और भेदते हैं !!
इससे अधिक स्पर्श करने में अभी व्यर्थ हूं !!!

—श्री राहुल, आगरा

▲

रजनीश यानी आगे
आगे ··· और आगे ··· और आगे ··· और
और आगे ··· ··· ··· ··· हमारी पहुंच के बाहर

—स्वामी अगेह भारती

▲

फूल के प्रति शूल की चाहत

मैं तो कांटा हूं चुभन अपनी कहां ले जाऊं
बहुत डरता हूं तेरे पास मैं कैसे आऊं
तू तो इक फूल है सुन्दर है सुवासित भी है
मैं तो इक शूल हूं ये भूल मैं कैसे जाऊं
प्रेम करना भी चाहूं प्रेम नहीं कर पाऊं
जिसकी मैं क्रोड़ में जाऊं उसी को चुभ जाऊं
दूरी मिटती है तो चुभकर मैं कसक देता हूं
दूर हो जाऊं तो मैं दूर नहीं रह पाऊं
कोई मिलता नहीं जीवन का विष जो पी जाए
मेरी कटुताओं को सीने से लगा अपनाए
फूल होकर तुझे विषपान ये करना होगा
कम से कम मेरे लिए 'शंकर' तुझे बनना होगा

—'आकुल' राजेन्द्र

CONFESSION OF AN "AQUARIUS CHILD"

Ultimately, after so much an enquiring and searching after the inner meaning of truth, I came to ask to my-self the last possible question which can be asked by a human mind : can ADVAITA (Non-duality) be really experienced ?

By that time at Mount Abu, during the last 'Shivir' held by Bhagwan Shree Rajneesh, I had developed a very high temperature, and the details of outer things were looking to me as much vague as those of a fabulous tale.

Slowly, slowly, by egolessly sinking in, the expected answer came.

When no boundaries were felt by me any more between my self and THE SELF, my inner being and THE BEING, only then that amazing feeling of being IN TUNE with the ALL REALITY became the answer—a living eternal YES.

With that ever-singing YES
resounding into my innerness,
I'll be going and going
by the time to come;
AS A WITNESS
just as a silent witness
with no mission but that of being a living proof of what happens after taking the jump provided that a living guide is there in the beginning to help you to by-pass the most difficult steps !

May the right time come for thousands of "Aquarius children" to take the jump towards the

COMMON EARTH, the

NEW AGE, the

OLDEST RIPENESS !!

With feeling of eternal devotion to the living guide BHAGWAN SHREE RAJNEESH, on the happy occasion of His birthday.

Ma Veet Sandeh Ke Pranam.

Bombay-1971

०००

प्रेमियों द्वारा प्रेमियों को लिखे गए पत्र

(बच्चन जी का २२-८-६९ का शिव को लिखा गया पत्र)

प्रिय शिव,

तुम्हारा पत्र । धन्यवाद ।

आचार्य रजनीश जी से मिलना मेरे लिए एक नया अनुभव था ।
उनका हृदय दर्पण के समान है ।
मुझे उसमें अपनी छाया दिखी ।
मेरा दर्पण उतना साफ तो नहीं,
पर उन्हें भी मैंने अपने हृदय में बिम्बित पाया ।
मैं उनकी पुस्तकें पढ़ रहा हूं ।
उनकी वाणी युग की अनिवार्य आवश्यकता है ।
मैं उनके प्रकाशित सब कुछ को देखना चाहता हूं ।
हालांकि पुस्तक से अधिक उनके सम्पर्क से उन्हें जाना जा सकता है ।
इसी से मेरी अभिलाषा है कि कभी उनके सत्संग का लाभ उठाऊं ।
उनका काम कठिन पर परमावश्यक है ।
हर अच्छा काम बलि लेता है ।

कहीं इस विभूति को भी न अपनी बलि देनी पड़े।
मैं सोचकर कातर हो उठा था।
भावुकता दुर्बलता है, पर अपनी दुर्बलता से ही तो कुछ कार्य किया जा सकता है। दूसरों की दृढ़ता मेरे किस काम की ?...

सितम्बर में रजनीश जी ने दिल्ली आने को कहा था। आ रहे हों तो तिथि के बारे में मुझे सूचित करना, मैं उनसे मिलूंगा। तभी अक्टूबर में जबलपुर आने का कार्यक्रम बनाऊंगा। कोई प्रचार, कोई साहित्यिक गोष्ठी-कार्यक्रम नहीं। किसी को मेरे आने की खबर भी न हो तो ज्यादा अच्छा। मैं अधिक से अधिक समय, जो रजनीश जी दे सकें, उनके साथ बिताना चाहूंगा। शेष साधारण,

शुभकामनायें,
सादर,

बच्चन

०००

(कुमारी पद्मजा सिंह, पटना के शिव को लिखे २५-९-'६९ के पत्र का अंश)

...आचार्य जी की बातों में मेरी उत्सुकता का कारण यह था कि उनके पटना आगमन के पूर्व ही 'धर्मयुग' में मैं कुछ दार्शनिक मान्यताओं के सम्बन्ध में उनके लेख पढ़ चुकी थी। मैं दर्शन की छात्रा हूं और आचार्य श्री के उस लेख की कुछ बातों से असहमत होने के कारण मैं व्यक्तिगत रूप से उनसे पत्राचार करने की बात सोच रही थी। उस समय आचार्य श्री के संबंध में मुझे विशेष कुछ मालूम नहीं था। संयोगवश उसी समय मालूम हुआ कि आचार्य जी पटना आने वाले हैं। उत्सुकता रोक नहीं पाने के कारण मैं उनके भाषणों में निरंतर जाती रही। मुझे लगा कि मैं उनकी कुछ बातों से असहमत अवश्य हूं लेकिन उनकी बातों में शब्दों के अलावा भी कुछ है जिससे मैं कहीं भी असहमत नहीं हूं। शब्दों से असहमत होने का कारण भी मेरी उथली जानकारी थी। इसीलिए मैं 'युक्रांद' की सदस्या बनी ताकि उनके विचारों को ठीक-ठीक जान सकूं। उनसे मिलने की इच्छा रहते हुए भी उनकी व्यस्तता और अपनी सामान्यता के कारण मिलने का उद्योग करने में भी झिझक होती रही और मैं मिल नहीं सकी। वैसे सान्निध्य तो प्रेरणा का उत्स होता ही है लेकिन व्यक्ति नहीं तो उसके विचारों का सान्निध्य तो है ही जिनसे प्रेरणा ली जा सकती है, ली जा रही है।

छठे अंक में आपके द्वारा लिखा गया 'लुधियाना-यात्रा-एक रिपोर्ताज' काफी अच्छा लगा ।

सद्भावनाओं के साथ,

पद्मजा

०००

(महाराष्ट्र की एक बहन का स्वामी अगेह भारती को लिखा २६-७-७१ का पत्र)

आदरणीय स्वामी जी,

सादर प्रणाम ! आपसे मेरा किसी तरह परिचय नहीं है, किन्तु फिर भी, आप मेरी एक समस्या को हल करने में सहायक हो सकते हैं, इस आशा से मैं यह पत्र लिख रही हूं ।

मैं कोई विशेष शिक्षित युवती नहीं हूं । या आध्यात्मिक क्षेत्र में विशेष गति भी मेरी नहीं है । किंतु पिछले कुछ दिनों से मैं श्री आचार्य जी का 'युक्रांद' मासिक पत्र पढ़ रही हूं । इसके पूर्व भी मैंने उनकी एक दो किताबें 'मिट्टी के दिये' 'अज्ञात की ओर' पढ़ी थीं । इन सबको पढ़ने के पश्चात, उनके प्रति एक विशेष आकर्षण सा अनुभव होने लगा है । कई बार उनसे मिलने की तीव्र आकांक्षा जागृत हो उठती है ! प्रथम बार वे जब हमारे शहर आये थे, तब उनका प्रवचन सुनने (केवल एक दिन) मैं गई थी, किंतु उनके सम्बन्ध में न पहले कुछ सुना था, न पढ़ा था । अतः जब मेरे साथियों ने उनके सम्बन्ध में मुझसे पूछा, मैंने कहा, वे एक आलोचक मालूम पड़ते हैं,किंतु मिट्टी के दिये पढ़ने के पश्चात, अपनी धारणा को मुझे परिवर्तित करना पड़ा तथा जीवन में पुनः कदापि शीघ्र निर्णय न लेने का निश्चय किया ।

स्वामी जी, यह सब इसलिये लिख रही हूं कि, आज मैं उनसे व्यक्तिगत रूप में मिलने के लिए लालायित हूं । किंतु जिन परिस्थितियों में मेरा अस्तित्व है, वह बिलकुल प्रतिकूल है ! मैं जाति से क्रिश्चियन हूं, तथा घर के अन्य सभी सदस्य कट्टर स्वधर्माभिमानी हैं । हमारे घर की स्थिति ऐसी है कि, किसी अन्य धर्म का शब्दोच्चारण व कैलेंडर भी किसी से देखा नहीं जाता ! कभी मंदिर या अन्य जगह जाया जाए तो घर में भूचाल आ जाता है ! ऐसी स्थिति में आचार्य जी से साक्षात्कार हो तो कैसे ? हां उनसे पत्र व्यवहार करने की इच्छा होती है तो, मुझे उनका पता ही नहीं मालूम है । स्वामी जी, आप पता लिख भेजने की कृपा करेंगे ! अनुगृहीत होऊंगी मैं !

आचार्य जी से साक्षात्कार हो ! ऐसा मुझे क्यों लगता है। यह प्रश्न जब मैं अपने से करती हूं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि, न मुझे उनसे ज्ञान प्राप्त करने की आकांक्षा है, या किसी साधन मार्ग का ही मैं उपदेश चाहती हूं ! केवल एक अभीप्सा, वह कि एक पूर्ण मानव के दर्शन की। वे हमारे समकालीन हैं ! अतः मिलने की आकांक्षा तीव्र हो उठती है ! यह योग कैसे हो ? इस विषय में आप कुछ पथ प्रदर्शन करें ?

०००

(अहमदनगर से स्वामी आनंद आलोक का स्वामी अगेह भारती को लिखा गया पत्र)

प्रिय स्वामी अगेह भारती-

आचार्य श्री के दो पत्र साथ भेज रहा हूं।

मनुष्य जाति के ज्ञात इतिहास में ऐसा अद्भुत व्यक्ति शायद नहीं हुआ है। उनके अनूठे व्यक्तित्व से प्रेरणा एवं प्रत्यक्ष सत्य की लहर यहाँ साकार हुई है। उन्हें कोई कैसा समझे ? समझने की कोशिश ही उनसे तोड़ती है। गत नौ साल से मैं उन्हें सुन रहा हूं ! उनको सुनना ही कबीर की मस्ती का अनुभव करना है। ऐसा संगीत···ऐसा स्वर जो पागल बना देते हैं। पागल इसलिए कि दुनिया हमेशा ऐसे समय यही समझती है। नहीं तो जीसस जैसी सरलता की हत्या क्यों होती ? सुकरात की प्रखरता, बलि जाने का क्या कारण ? लेकिन यहां तो—राम का चारित्र्य, कृष्ण की लीला, महावीर का सौंदर्य, बुद्ध की शांति, मुहम्मद का साहस, जीसस की सरलता, इन सबका साकार संगम हुआ है। और वहां से करुणा की गंगा बह रही है ! उनकी करुणा ने—जो संगीत छेड़ा—उससे मैं पागल हुआ। और फिर समर्पित करने के निर्णय तक आया ! उन्हें दिया तो लोग चौंके ··· हमेशा की उनकी चालाकियों से तो परिचित था ! तब कहा, "यह सब मैंने मरने के लिए किया है।" माउंट आबू पर उन्हें समर्पित हुआ···नहीं उन्होंने ही पास बुला लिया। अब जी रहा हूं, बिलकुल गैर गंभीर होकर ! अब तो उसे ही चिंता होगी।

जो भी हो···है ! जीवन अत्यंत सहज हो गया है। जागरुक भी किया है—उन्होंने ! साहस उन्हीं से पाया है। मेरा अपना एक अनुभव है—उनकी प्रेरणा ने मुझे मरने को राजी किया है। जीने को भी राजी किया। उन्हीं के ये शब्द—"असत्य सफल कैसे हो सकता है ? असत्य ही जब धोखा है तो उसकी सफलता भी धोखा ही होगी ! और 'मैं' के अतिरिक्त और कोई झूठ नहीं है। इसलिए बहो—तैरो मत।"

"राजी हूं, तुम्हारी मर्जी में।" कृतज्ञता के साथ।

—स्वामी आनंद आलोक

०००

(स्वामी परमानंद भारती, अजमेर का लिखा एक पत्र)

स्वामी अगेह भारती,

मुझे क्षमा करें। मैंने कहा था कि लिखकर भेजूंगा कुछ अपने अनुभवों के बारे में, परन्तु लिखने बैठा हूं तो एक मुश्किल में पड़ गया हूं कि लिखता हूं, पर वह नहीं लिख पाता जो लिखना चाह रहा था। अनुभव करने वाले में तथा लिखने वाले में कहीं कोई मेल नहीं है, इसलिए जो कुछ भी लिख पाया वह सिर्फ लिखने वाले का था; इसलिए व्यर्थ था अनुभव करने वाले की दृष्टि में, और यह जो अभी लिख रहा हूं, कितना सत्य है कितना असत्य, कौन जाने। पल प्रतिपल कुछ नया जन्म लेता मालूम पड़ता है और फिर वही एक छलना, एक धूर्तता, भ्रम मालूम पड़ने लगता है। चूंकि आपसे कहा था कि लिख भेजूंगा और आप प्रतीक्षा करेंगे कि मैं लिखकर भेजने वाला था, इसीलिए यह लिख दिया है ताकि आप जान सकें कि प्रतीक्षा का अब कोई सवाल नहीं रह गया है। शायद दोनों में कोई तालमेल बैठे तो फिर कभी लिखूंगा और उस प्रसाद को जो परमात्मा से मिलेगा सारी दुनिया को बांट दूंगा। अभी मुझे क्षमा करें।

अन्त में उस प्रभु के प्रति अनुग्रह प्रदर्शित करने में क्यों संकोच करूं, जिसकी अनुकंपा से आज तक का यह व्यवस्थित ढांचा गड़बड़ा गया है, व्यवस्थित इसलिए कि दुनिया की व्यवस्था के अनुसार ही निर्मित था सब कुछ परंतु अब उसमें अव्यवस्था ने जन्म ले लिया है। प्रभु की अनुकंपा से ध्यान का प्रयोग चल रहा है, कीर्तन भी जितना बन पड़ता है, चलता है। मिटने की पीड़ा का रस भी अनूठा है। वह प्रभु जो संन्यास के साक्षी की क्रीड़ा करते हुए एक सरल-मृदु बाल स्वभाव वाले हैं तथा प्रवचन के समय अथाह ब्रह्माण्ड के ऊर्जा-स्रोत के मुख के सदृश हैं एवं त्राटक 'त्राटक-ध्यान' के समय करुणा की क्रीड़ा में संलग्न भाव विह्वल करने वाले हैं और भक्तों के प्रणाम स्वीकार करते समय हिलोरे भरते आनंद के असीम-सागर के समान हैं, उन्हीं भगवान श्री के चरण कमलों में सानुग्रह प्रणाम के साथ.

साधु परमानन्द भारती के प्रणाम

दिनांक ७–१०–७१

अजमेर

०००

(प्रतापगढ़ से श्री लालप्रतापसिंह का अरविन्द भाई को लिखा २०-१-७१ का पत्र)

मेरे प्रिय अरविन्द भइया,

आपने युक्रांद की प्रति भेजकर जो कृपा एवं प्यार हम पर किया है वह कैसे कहूं ! युक्राँद पूरा पढ़ डाला। मैंने पाया है कि आचार्य जी के एक-एक वाक्य में एक-एक सागर है एक-एक शब्द में एक-एक सागर है। आचार्य जी कितने बड़े महायोगी हैं यह जैसे ही समझ में आता है तो उन पर कुर्बान जाने का, उनकी कृतियों पर कृतज्ञता-यापन का एक ही मार्ग मुझे सूझता है और वह यह कि एक-एक वाक्य जैसे-जैसे पढ़ता जाऊं वैसे ही प्रत्येक वाक्य पर कोई मेरी हत्या कर दे—मेरा गला काट ले। और दूसरे वाक्य के लिए मैं फिर जी आऊं तथा उसे पढ़ते ही फिर मेरी हत्या कर दी जाये। और यही क्रम चलता रहे जब तक कि मैं उनका सारा साहित्य न पढ़ डालूं। ओह ! मनुष्यमात्र के लिए इतना प्रेम, इतनी करुणा, इतनी पीड़ा ! इतने महान विचारों का बदला और कैसे दिया जा सकता है ? आह, उन विचारों की सराहना के अन्य सभी मार्ग कितने हल्के, कितने उथले होंगे !

आचार्य जी के दो पत्र मुझे मिले हैं। दोनों सेवा में भेज रहा हूं। अब तीसरा पत्र उन्हें भेजने का मेरा विचार नहीं है फिलहाल। क्योंकि दो पत्रों में जो मिला है उसे ही संजो सकूं, संभाल सकूं यही बड़ी बात होगी। धन्य है उस कृपालु, उस करुणामय को जो प्रत्येक को उसी रूप में मिलता है जिस रूप में जो उसे चाहता है।

अधिक क्या लिखूं। 'आपका आभारी हूं'—यह भी तो नहीं कहा जाता। आप अच्छे हों, इन्हीं कामनाओं के साथ,

विनम्र,

लाल प्रताप

०००

(अमरावती के श्री विजय कुमार का शिव को लिखा २०-९-७० का पत्र)

परम प्रिय,

प्रेम। लुधियाना यात्रा-रिपोर्ताज पढ़कर आनंदित हूं। आप इसी तरह युक्रांद में रिपोर्ताज देते रहेंगे। ऐसी आशा करता हूं।

मैंने आचार्य श्री को अमरावती में सुना और उनके विचारों से प्रभावित हूं। आचार्य श्री की बहुत सारी रचनायें पढ़ चुका हूं। युक्रांद तथा 'ज्योति शिखा' भी पढ़ता हूं।

वैसे तो मैं दिगंबरी जैन समाज में पैदा हुआ हूं। अभी तक पक्का जैन था। लेकिन अब तो सारे बंधनों से अलग हूं। मेरे माता पिता मेरा बहुत ही विरोध करते हैं। कहते हैं कि तू अधार्मिक, पापी, मूर्ख है। और घर के सारे लोग मेरे लिए क्रोध से भरे हैं।

खास तौर पर मेरे बड़े भाई जो हैं (कारंजा आश्रम में पढ़े हैं) मेरा बहुत ही विरोध करते हैं। मैं उन्हें समझाने की कोशिश करता हूं, तो कहते हैं 'मैं कुछ भी सुनना नहीं चाहता'। और कहते हैं कि जैन शास्त्र पढ़। जैन शास्त्र जैसा कोई भी धर्मशास्त्र श्रेष्ठ नहीं है। जैन शास्त्र में इतना ज्ञान है जितना और कहीं भी नहीं है।

क्या आपके कोई विरोधी नहीं हैं ? उनसे आप किस तरह का बर्ताव करते हैं। क्या आपको समाजवालों से विरोध नहीं है। क्या आप इस संबंध में मुझे कुछ लिखेंगे। आपसे मेरी वैसी तो पहचान नहीं है। मैंने आपको देखा भी नहीं। फिर भी एक अंतस् की प्रेरणा से खत लिख रहा हूं। क्या आप मेरे इस प्रेम को स्वीकार करेंगे।

मैं आचार्य श्री को यहां पर आमंत्रित करना चाहता हूं। क्या करना होगा, कितना खर्चा आयेगा कृपया सूचित करें।

आपका पता तो मालूम नहीं है आशा करता हूं यह खत आप तक पहुंच जायेगा।

लिखने को और तो कुछ भी नहीं। वहां सबको मेरे प्रणाम।

विजय कुमार

क्या रजनीश भगवान हैं ?

—स्वामी अगेह भारती

पिछले दिनों एक 'हिन्दी दैनिक' में उपर्युक्त शीर्षक से एक पत्र छपा। इस तरह की बातों अथवा उनके प्रकाशन से मुझको आपत्ति नहीं, बल्कि प्रसन्नता है। पर सम्पादकों के अनेक-अनेक चेहरों से मेरा घोर विरोध है। जैसे कि इस प्रकार के पत्रों के साथ एक टिप्पणी हुआ करती है कि "इस स्तम्भ में प्रकाशित विचार लेखक के अपने विचार हैं। उनसे सम्पादक का सहमत होना जरूरी नहीं।" अर्थात् सम्पादक द्वारा तटस्थ होने का नाटक। नाटक इसलिए कि अगर वह सचमुच तटस्थ हो तो उस पत्र का उत्तर भी उसे प्रकाशित करने की क्षमता दिखानी चाहिए। पर स्वामी अगेह भारती द्वारा दिए गए उत्तर को उक्त संपादक ने अपने समाचार-पत्र में स्थान नहीं दिया। मैं कहना चाहता हूं कि तटस्थ होना कोई हंसी-मजाक नहीं है। वह अनन्त साधना का फल है। हां, राजनीतिक तटस्थता की बात भिन्न है कि क्षण में इधर, क्षण में उधर। अर्थात् हवा का रुख देखकर।

ऐसे सम्पादकों का असली चेहरा उघाड़ने व भगवान श्री के प्रेमियों के रसास्वादन हेतु उपर्युक्त शीर्षक से हिन्दी दैनिक में छपा पत्र व उसका स्वामी अगेह भारती द्वारा दिया गया उत्तर—जिसे कि तथाकथित तटस्थ सम्पादक ने छापा नहीं—यहां प्रकाशित है। कहने की जरूरत नहीं कि इस अंक में प्रकाशित हर चीज का दायित्व इस अंक के सम्पादक पर है। अब पढ़ें वह पत्र जिसे अखबार ने छापा था—

महोदय,

'टाइम्स आफ इन्डिया' के १५ जुलाई के अंक में आचार्य रजनीश के भाषणों को लेकर उनका फोटो सहित एक विज्ञापन छपा है। इस विज्ञापन में जगह-जगह उन्हें भगवान श्री रजनीश कह कर सम्बोधित किया गया है। आचार्य रजनीश श्रेष्ठ आधुनिक विचारक हैं। आपके तर्क, वैज्ञानिक सत्यों के अनुरूप होकर समाज में फैली गलत मान्यताओं को तोड़ फेंकने हेतु क्रांतिकारी चेतना फैलाते हैं। इन्हें भगवान कहकर सम्बोधित करना उन विचारों की हत्या ही करना है।

आचार्य रजनीश का कथन है कि समाज को विश्वास नहीं, विचार का आलोक दिया जावे। विश्वास को वे अन्धेपन और दासता की शिक्षा कहते हैं। विचारों और तर्कों पर कसे हुए वैज्ञानिक सत्यों से मानव का कल्याण हो सकता है। विचार मार्ग है, विश्वास भटकाव है।

आचार्य रजनीश को भगवान कहना, उन पर "विश्वास करो" इसी भावना का प्रतीक है। जिन गलत धारणाओं का खंडन वे अपने विलक्षण तर्कों से कर रहे हैं उन्हीं का पोषण होता दिखाई दे रहा है।

रमेश कुमार गुप्ता

० ० ०

अब पढ़े वह उत्तर जो स्वामी अगेह भारती ने दिया पर जिसे छापा नहीं गया।

महोदय,

७ अगस्त के अंक में श्री रमेश कुमार गुप्ता का विचारपूर्ण पत्र—"क्या रजनीश भगवान हैं?"—पढ़ा। पत्र मुझे सुन्दर लगा तथापि उस सम्बन्ध में कुछ कहना चाहता हूं। आशा है प्रकाशित करके मेरी बात श्री गुप्ता जी एवं पाठकों तक पहुंचाने में मदद करेंगे।

रजनीश भगवान हैं या नहीं? कहना सरल नहीं है क्योंकि बिना उस ऊंचाई तक उठे उसे कैसे पहचाना जाय? पर इतना कहा जा सकता है कि यह तो अपनी-अपनी दृष्टि है। गुप्ता जी तो कम से कम उन्हें श्रेष्ठ आधुनिक विचारक मानते हैं। कई लोग उनको विचारक भी नहीं मानते और वे भी अपने को शत प्रतिशत ठीक समझते हैं। जहां तक अंध विश्वास का प्रश्न है, हम दूसरे के भीतर की बात कैसे जान सकते हैं कि कोई अंधा होकर विश्वास कर रहा है या उसे कोई झलक मिली है और वह ऐसा कहने व मानने को विवश है। हनुमान व द्रोपदी और आनंद आदि क्या राम, कृष्ण और बुद्ध के प्रति अंध विश्वासी थे? जी हां, मैं कहना चाहता हूं कि रजनीश विचारवान के लिए विचारक हैं पर साधक के लिए तो सिद्ध भी हैं, और साध्य भी।

गुप्ता जी ने आगे लिखा है कि: आचार्य रजनीश को भगवान कहना उन पर 'विश्वास करो' इसी भावना का प्रतीक है। मैं निवेदन करना चाहता हूं कि 'सत्य' अथवा 'भगवान' पर विश्वास कभी कोई नहीं कर सका, कभी कोई नहीं कर सकेगा। वह असंभव है। मनुष्य या तो 'आलस्य' में होता है (जिसे कि हम विश्वास में होना कहते हैं) या 'संदेह और खोज में' या फिर 'श्रद्धा व जानने (ज्ञान)

में'। विश्वास की स्थिति कभी नहीं होती, नहीं हो सकती है। सच यह है कि जो उन्हें भगवान कह रहे हैं वे भीतर से विवश हैं कहने को। **उन्हें वे भगवान दिख रहे हैं तभी वे कह रहे हैं। और उसका सहज परिणाम दूसरों पर जो होगा वह यह नहीं होगा कि वे विश्वास करने लगेंगे। वह यह होगा कि वे सन्देह करने लगेंगे।** [लेकिन सन्देहशील व्यक्ति सोता नहीं, खोजता है, खैर] तो जब कोई उन्हें भगवान कहता है तो—वह यह जानता है कि आप नहीं मानेंगे। मानना संभव ही नहीं है। पर वह यह भी जानता है कि अपनी नींद से आप चौंकेंगे—जगेंगे। फिर क्या होगा ? फिर आप सन्देह करेंगे। और सन्देह करना बहुत बड़ी बात है। क्योंकि वह खोज में ले जाता है। तो 'उन्हें' भगवान कहने वाला 'विश्वास' में नहीं सच पूछा जाय तो सुनने वाले को 'सन्देह' में ले जाता है— अनायास।

अंत में कि, इसी नगर से प्रकाशित युक्रांद के जून अंक में अहमदाबाद के एक प्रोफेसर संन्यासी ने एक लेख लिखा है—"रजनीश भगवान क्यों और कैसे ?" अगर गुप्ता जी की निगाह से वह लेख गुजरा होता तो अवश्य ही उनका काफी समाधान हो गया होता।

●

००

हे प्रभो !
मैं तुझ पर कुछ लिखना चाहती हूं
हां, चींटी हूं
आसमान छूना चाहती हूं,
मगर···आह !
कैसे छू पाऊं !! कैसे छू पाऊं !!!

—श्रीमती पुष्पावती शर्मा,
जलंधर (पंजाब)

०००

"वाह रे, प्रभु तेरी लीला"

—मा धर्म ज्योति, बम्बई

लोग गले की माला के लाकेट में भगवान श्री का चित्र देखते ही पूछते हैं "ये आपके गुरु हैं ?" एक क्षण को तो मैं मौन हो जाती हूं और फिर कहती हूं "हां"। लेकिन मन ही मन सोचती हूं कि जरूर 'गुरु' शब्द के अर्थ का अनर्थ होगा। क्योंकि लोग तो प्रचलित **'गुरुडम'** से ही परिचित हैं। उन्हें क्या मालूम कि 'ये कैसे गुरु हैं ?"

कितने प्यारे, कितने निराले.
और कितने भोले भाले हैं·····
हम अपना सब कुछ उन्हें समझते हैं,
पर लगता है वे कुछ भी तो नहीं हैं।
उन्हें शून्य कहें या पूर्ण कहें
सब कहना अधूरा ही लगता है,
फिर कैसे उन्हें हम 'गुरु' कहें ?

कश्मीर यात्रा की एक घटना याद आती है। पहलगाम में भगवान श्री के साथ ठहरने का सौभाग्य मिला था। पहलगाम के मुसलमान भगवान श्री के व्यक्तित्व को देख उन्हें "पीर बाबा" कहते थे और उनसे मिलने को आतुर रहते थे। एक दिन दोपहर को जब भगवान श्री भोजन के बाद विश्राम कर रहे थे तो दो बूढ़े व्यक्तियों का आना हुआ।

उन्होंने आते ही पूछा, "पीर बाबा कहां हैं ?"
मैंने कहा, "विश्राम कर रहे हैं"

वे पीरबाबा के सम्बन्ध में कुछ जानकारी पाने को उत्सुक थे। पूछने लगे, "पीरबाबा आपके पिताजी हैं ?"

अब मैं क्या कहती ? **मुझे खुद भी नहीं मालूम वे मेरे कौन हैं ?**
फिर भी उन्हें निपटाने के लिए मैं बोली "हां"।
पर बात यहां निपटने वाली नहीं थी।
उन्होंने फिर पूछा, "आपके और कितने भाई बहन हैं ?"
मेरे से उत्तर आया, "पिताजी तो सबको अपना बच्चा ही समझते हैं।"

मैं सोचने लगी अब आगे न मालूम क्या पूछेंगे तो इतने में एक ने पूछ ही लिया, "आपकी माताजी भी यहां आयी हुई हैं ?" अब तो बात और

बढ़ गयी, अब भला मैं क्या कहती, फिर भी कह पड़ी, "मेरे पिताजी, माताजी सब वो ही हैं।" और उनके ऐसे प्रश्नों से छुटकारा पाने के लिए मैं उठ खड़ी हुई और उन्हें नमस्कार कर कहा कि वे तीन बजे आकर पिताजी से मिल सकते हैं। दोनों जाने लगे और जाते-जाते एक ने दूसरे से कहा, "बिचारी की मां मर गयी है।" मैं तो सुनकर चौंक गयी कि **यह कैसा अर्थ का अनर्थ हो गया** और फिर हंसने लगी और मुंह से निकला, "वाह रे प्रभु तेरी लीला!"

०००

और भी कुछ कहना है तुम्हें ?

---श्रीमती उर्मिला, एम० ए०

गौर वर्ण, उन्नत ललाट, विशाल नेत्र, टेढ़ी भवें, सुस्पष्ट नासिका, लम्बी सुव्यवस्थित दाढ़ी-मूछों में से मन्द-मन्द मुस्काते हुए अरुणाभ ओंठ-शुभ्र परिधान से आवृत मझोले कद की इस आकृति में न जाने कैसा आकर्षण है कि परिचित-अपरिचित जो कोई भी उसे एक बार देखता है, बस देखता ही रह जाता है। यह आकृति बैठी हो या खड़ी, देखने वाले को ऐसा प्रतीत होता है कि उससे बहुत ऊंची है।

विशाल नेत्रों की अनोखी चमक दर्शक के हृदय को बेधकर उसमें एक विचित्र प्रकार की छटपटाहट उत्पन्न कर देती है। इस अद्भुत आध्यात्मिक चेतना का नाम है रजनीश! आचार्य रजनीश! भगवान रजनीश! इस करुणापूर्ण व्यक्तित्व के सम्पर्क में आकर लोगों को जो शान्ति मिलती है उसका आनन्द आंसुओं के रूप में प्रवाहित होने लगता है। उसके प्रेम से अभिभूत हो कोई उसे "रजनीश" पुकार कर अपना अपनत्व प्रकट करता है, उसकी चतुर्मुखी प्रतिभा और आध्यात्मिक ऊंचाई से आश्चर्यचकित हो कोई उसे "आचार्य जी" कह कर अपना असीम आदर अभिव्यक्त करता है। किन्तु जिन लोगों को उसके बताए हुए पथ पर चल कर दिव्य आनन्द की अनुभूति हुई है और जिनको उसकी मनुष्य देह में ईश्वरत्व की झलक मिल गई है वे आनन्द से मतवाले होकर "भगवान रजनीश" का जयजयकार करते हैं।

इस व्यक्तित्व की विशेषता यह है कि यह सब स्तरों के और सब वर्गों के लोगों को प्रभावित कर देता है। आध्यात्मिक चेतनायुक्त व्यक्ति तो उनके दर्शनमात्र से ही प्रभावित हो जाता है क्योंकि पूर्ण सात्विकता की इस मूर्ति की

उपस्थिति ही प्रकाश की प्रथम किरण की भांति आन्तरिक अन्धकार को विचलित कर देती है। बौद्धिक व्यक्ति उसके विचारों की नवीनता और मौलिकता से प्रभावित होता है और साधारण विनम्र व्यक्ति तो अनायास ही उसकी महानता के सामने नतमस्तक हो जाता है। उसके प्रभाव से तो वही अछूता रह सकता है जो दंभ और अहंकार से परिपूरित एवं बौद्धिक एवं आध्यात्मिक चेतना से विहीन हो।

कुछ वर्ष पहले तक अपने ही देशवासी जिस आध्यात्मिक विभूति से अपरिचित थे अब उसकी ख्याति देश की सीमा को पार कर गयी है जिसके परिणामस्वरूप अनेक विदेशी जिज्ञासु उनको शरण में आकर 'ध्यान' की विधि सीखकर अपना जीवन सफल कर रहे हैं। आचार्य रजनीश का विश्वव्यापी प्रेम किसी व्यक्ति, जाति, समाज या देश तक सीमित नहीं है, इसलिए हिन्दू, सिक्ख, जैन, ईसाई, मुसलमान, पारसी आदि सब धर्मों के लोग उनकी शरण में आये हैं, आते जा रहे हैं। उनके जैसा आध्यात्मिक व्यक्ति किसी एक धर्म या सम्प्रदाय की संकीर्ण-परिधि में नहीं रह सकता है। वह इन सबसे ऊपर उठ जाता है। उसकी दृष्टि में नारी-पुरुष, चर-अचर, जड़-चेतन, शुभ-अशुभ अपना-पराया आदि के सब भेद मिट जाते हैं और समस्त विश्व उसके लिए ब्रह्ममय बन जाता है। मनुष्यमात्र के कल्याण की जो भावना आचार्य रजनीश के हृदय में है उसी से प्रेरित हो वे सबके जीवन को आनन्द से पूर्ण देखना चाहते हैं। इसीलिए उस परम ज्ञान का दान देते समय वे दूसरे की पात्रता व अपात्रता का विचार नहीं करते और अपने प्रेम एवं आनन्द को दोनों हाथ लुटाते हैं किंतु सच तो यह है कि हर व्यक्ति उतना ही ग्रहण कर पाता है—जितनी उसकी सामर्थ्य होती है। मानव मात्र के लिए आचार्य जी का सन्देश यही हैं कि यदि दुःखों से छुटकारा पाना है तो जीवन को "ध्यान" द्वारा शांति और आनन्द की ओर अग्रसर करो। जप-तप, पूजा-पाठ, व्रत-स्नान आदि कर्मकाण्डों द्वारा मन को भुलावा दिया जा सकता है किन्तु इनके द्वारा आत्म-विकास नहीं हो सकता क्योंकि इन वाह्य विधियों का व्यक्ति की आंतरिक दशा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ध्यान ही मन की चंचलता को दूर करता है और विचारों के चक्रीय क्रम को तोड़ देता है जिससे अन्तर शान्त होने लगता है। एक बार शान्ति की आंशिक अनुभूति होने पर मनुष्य को जो आनन्द प्राप्त होता है उसके कारण वह अपने भीतर अशांति पैदा करने वाले क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार आदि विकारों के प्रति सजग हो जाता है और यहीं से उसका आत्मपर्यवेक्षण एवं आत्मविकास आरंभ हो जाता है।

ध्यान का लक्ष्य है मन को विचार शून्य करना। विचारों के लुप्त होते ही उस परम स्थिति की प्राप्ति होती है जहां व्यक्ति की इकाई समाप्त हो

जाती है और वह समष्टि का अंग बन जाता है। यूं तो साधारण मनुष्य की चेतना शरीर, भावना और मस्तिष्क के स्तर तक ही सीमित रहती है परंतु उस परम सत्य की अनुभूति तो तभी होती है जब मस्तिष्क की सीमा का अतिक्रमण कर मानव-चेतना उस चरम स्थिति में पहुंचती है जिसे समाधि-अवस्था कहते हैं। तब व्यक्ति की चेतना उस विराट चेतना से संयुक्त होकर सत्-चित्-आनंदमय हो जाती है। इसी को निर्विकल्प समाधि अथवा Cosmic Consciousness कहते हैं।

प्रतिक्षण इस परमानन्द की अनुभूति करने वाले महायोगी रजनीश का साधनापथ अत्यन्त सरल एवं स्वाभाविक है। सत्य की खोज करते समय उन्हें जो विविध आत्मिक अनुभव हुए उनके आधार पर उन्होंने जिन अनेक प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों को निरर्थक सिद्ध किया है उनमें से प्रमुख हैं शास्त्राध्ययन। लोगों की भावना को बड़ी ठेस पहुंचती है जब आचार्य जी कहते हैं कि धार्मिक ग्रन्थों के पठन-पाठन से व्यक्ति धर्मात्मा तो नहीं किन्तु धर्मान्ध अवश्य बन जाता है। तथ्य तो यह है कि वह उनमें निहित सत्य को समझने व ग्रहण करने में तब तक असमर्थ है जब तक वह स्वयं उस उच्च आत्मिक-स्थिति को न प्राप्त कर ले जहां पर पहुंचकर उन महान आत्माओं ने इन पावन शब्दों को उच्चारित किया था। प्रत्येक धार्मिक-ग्रन्थ की असंख्य टीकाओं का मूल रहस्य यही है कि अपनी-अपनी मनोस्थिति के अनुसार लोगों ने ये टीकायें लिखी हैं। किन्तु आत्मा की अनुभूति को मस्तिष्क द्वारा नहीं समझा जा सकता। इन ग्रन्थों को यदि समझना है तो स्वयं साधनापथ पर दृढ़ चरण रखने पड़ेंगे।

महाचेता आचार्य रजनीश की दृष्टि केवल आध्यात्मिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है वरन वह व्यक्ति और समाज की विविध समस्याओं की ओर भी जाती है। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, मनोवैज्ञानिक आदि समस्याओं का विश्लेषण करते समय अपने गूढ़ चिन्तन द्वारा वे जिन मौलिक निष्कर्षों पर पहुंचते हैं वे इतने नवीन और क्रांतिकारी होते हैं कि उन्हें सुनते ही लोग एक बार चौंक उठते हैं। वास्तव में आचार्य जी जीवन के तथ्यों की यथार्थता को नग्नरूप में प्रस्तुत करके लोगों के रूढ़िवादी संस्कारों पर तीव्र आघात द्वारा उनकी सोई हुई विवेक शक्ति को जाग्रत करने का प्रयास करते हैं। इसमें उन्हें यथेष्ट सफलता भी मिली है। दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई आचार्य जी के प्रेमियों की संख्या से यह सिद्ध होता है कि जीवन के प्रति उनके असाधारण दृष्टिकोण को जनता अब कुछ-कुछ समझने लगी है। इसीलिए

अब कहानियों में, कविताओं में, यहां तक कि "आनन्द" जैसे चित्रपट की कथा में भी उनके विचारों की स्पष्ट प्रतिध्वनि सुनाई देने लगी है।

आचार्य जी के स्वभाव में कोमलता व दृढ़ता का अपूर्व सामंजस्य है। समस्त संसार के प्रति उनके हृदय में इतनी समवेदना है कि सुन्दर से सुन्दर फूल को भी वे पौधे से न स्वयं तोड़ते हैं और न किसी को तोड़ने देते हैं। इसीलिए योगेश भवन (जबलपुर) के बगीचे के पौधों पर फूल खिलते, मुरझाते और स्वतः नीचे गिर जाते किन्तु कोई उन्हें टहनी से अलग करने का साहस न करता। ऐसे कोमल-हृदय व्यक्ति को विरोधियों की पाषाण-वर्षा के सामने पर्वत सा अचल खड़ा देखकर सचमुच बहुत आश्चर्य होता है। धन, पद, यश आदि के प्रलोभन उन्हें सत्य-पथ से विचलित नहीं कर सकते। उनके चरित्र की इस सच्चाई और दृढ़ता के कारण ही लोगों को उनके एक-एक शब्द पर पूर्ण विश्वास है क्योंकि वे जानते हैं कि आचार्य रजनीश थोथे उपदेश नहीं देते, वे जो कुछ भी कहते हैं उसकी पुष्टि उनके आचरण द्वारा होती है। अभी कुछ दिन पहले बम्बई में जब एक महिला उनसे मिलने आई तो प्रणाम करना तो दूर रहा, उसने आते ही पूरे बल से उन्हें एक तमाचा लगाया। उसके इस अप्रत्याशित व्यवहार से आचार्य जी न तो चौंके और न क्रोधित ही हुए, शान्त स्वर में उससे केवल यह पूछा "और भी कुछ कहना है तुम्हें ?" इतने में उसने दूसरे गाल पर अपनी शक्ति आजमायी। इस पर भी आचार्य जी ने केवल यही कहा, "और भी कुछ ?" तो उस नादान स्त्री ने उत्तर दिया "मैं तो आपकी परीक्षा ले रही थी कि आप सच्चे सन्त हैं या नहीं।" परंतु यहां पर प्रश्न यह उठता है कि ऐसे ओछे कृत्यों से क्या ऐसी उच्च आत्माओं की परीक्षा ली जा सकती है ? उनकी महानता को परखने के लिए अपने भीतर भी तो थोड़ी बहुत सात्विकता होनी चाहिए। जिस प्रकार हीरे के मूल्य को आंकने के लिए जौहरी की दृष्टि चाहिए उसी प्रकार दूसरे के हृदय की पवित्रता को मापने के लिए अपना अन्तस् भी तो निष्कलुष होना चाहिए अन्यथा हीरा भी केवल कांच है और बड़े से बड़ा महात्मा भी साधारण मनुष्य है।

भगवान श्री की असीम करुणा

—साध्वी योग गुणा, बम्बई.

पिछले गीता प्रवचन में भगवान श्री की तबीयत ठीक नहीं थी। गला खराब और थकान की वजह से बुखार भी था। तो मैंने मा योग लक्ष्मी से पूछा; "अब भगवान श्री की तबीयत कैसी है?" उन्होंने बताया—"आज रात एक कीड़ा ने पीठ पर काटा है और बुरी तरह काटा है। बगीचे से किसी तरफ से बिस्तर में घुस आया होगा। मैंने कहा भी कि रात को किसी को बुलाया होता या आपने देखकर हटाया क्यों नहीं? तो वे तो सिर्फ हंसे" और कहा: 'देख, अब भी कहीं वहां ही होगा। उसे उसकी जगह पर छोड़ दे।' और जब लक्ष्मी जी ने देखा तो बिस्तर के नीचे लाल शरीर पर कांटे होते हैं ऐसा कीड़ा मिला। मैं सोचती हूं आचार्य श्री कितने करुणावान हैं कि कीड़ा काट रहा है यह जानते हुये भी उसे हटाया नहीं और काटने दिया।

●

भूलता नहीं

—मा धर्म रक्षिता, मालाड, बम्बई

बम्बई में महावीर-वाणी का समय। भगवान श्री (रजनीश) की माता जी व चाची जी ने संन्यास लिया। कैसे बताऊं उस दृश्य को! वह एक क्षण को भी भूलता नहीं। भगवान श्री का मा व चाची के गले में माला डालना व झुक-झुक के चरण छू-छू कर प्रणाम करना!! हमेशा भगवान श्री किसी को संन्यास देते तो लोग आनंद में तालियां बजाते। मगर उस दिन का वह दृश्य! लोग तालियां भी बजा रहे थे और साथ ही लोगों के आँसुएं भी झर रही थीं। कितना अवर्ण्य क्षण था! कितना अद्भुत! मा प्रणाम करना चाहती होगी, पर भगवान श्री ने मौका ही न दिया। खुद ही चरणों में झुक गए।

●

आनन्द, मैं तुममें डूब जाऊं !

——साधु आनन्द ब्रह्मदत्त

प्रभु !

चरण कमलों में सिर नवाता हूं ।

निवेदन करना चाहता था कि मेरे प्रणाम स्वीकार करें, किन्तु मैं हूं कौन यह निवेदन करने वाला और फिर अगर निवेदन करता भी हूं तो क्या यह अपनी स्वयं की ही प्रतिष्ठा कराना मात्र नहीं है ? हां, यह भी अपने को गौरवान्वित कराने का ही प्रयास है । नहीं, ऐसी धृष्टता मैं नहीं कर सकता । मैं तो सिर्फ यही कहना चाहता हूं कि—

सागर, मैं तुममें समा जाऊं !
आनन्द, मैं तुममें डूब जाऊं !

और आनन्द, मैं पूछना चाहता हूं कि कहाँ है आनन्द ? और कौनसा आनन्द ? मैं तो तुम्हें छोड़कर और किसी आनन्द को नहीं जानता । पता नहीं कोई और आनन्द है भी या नहीं ? पर तुम्हारी बातों से लगता है कि कोई एक आनन्द और भी है । साधना कराते वक्त भी तो तुम सुझाव पर सुझाव दिये चले जाते हो कि आनन्द ही आनन्द····· अनन्त आनन्द·····आनन्द में डूब जायं,·····भीतर आनन्द के झरने फूट रहे हैं· ···पी जायं, पी जायं उस आनन्द को·····आनन्द ही आनन्द । फिर पूछता हूं, कौन-सा आनन्द ? कहाँ है वह आनन्द ? या है भी वह आनन्द ? अनस्तित्व की चर्चा करने वाले ! बताओ, जिसकी तुम बात करते हो उस आनन्द का अस्तित्व है भी या नहीं ?·····मैं तुम पर शंका करता हूं ।·····मैं तुम्हें संदेह की दृष्टि से देखता हूं ।····· मैं स्वयं पर शंकालु होने का आरोप लगाता हूं । मैं···मैं···मैं तुमसे बारम्बार प्रार्थना करता हूं कि—

आनन्द, मैं तुममें डूब जाऊं ।
सागर, मैं तुममें समा जाऊं ।

और सागर, मैं जानना चाहता हूं कि सागर की लोकेशन क्या है ? कहाँ स्थित है वह सागर, जिसके आह्वान की सूचना तुम प्रायः दिया करते हो ? मैं तो तुम्हें ही हमेशा सागर की तरह गर्जना करते सुनता रहता हूं । तुम्हारे निकट पहुंचते ही सागर के किनारे की शीतल वायु का अनुभव होने

लगता है। फिर तुम न जाने किस सागर का निमन्त्रण देते चले जाते हो? और हम सब भी श्रीमद्भागवत की कथा के श्रोताओं की तरह सिर हिलाते रहते हैं। क्या तुम हम सबों को इतना बेवकूफ समझते हो? क्या तुम समझते हो कि इतने तमाम लोगों में से कोई उठकर नहीं पूछेगा कि कौन-सा सागर? कहाँ है सागर? या कि वह सागर है भी?···मुझे तुम्हारे कथन पर शत-प्रतिशत संदेह है।···मुझे जरा भी विश्वास नहीं है कि ऐसा भी सागर हो सकता है कि जिसमें कोई लहर न हो? और तुम हमारी हंसी उड़ाते हो कि हम सागर का नहीं लहरों का दर्शन करके आते हैं।···सागर की अगाध गहराइयों की सूचना देने वाले! मैं तुम्हें चैलेंज करता हूं कि बताओ वह कहाँ है? झूठे!·····अनंत मुस्कराहटों वाले! नहीं बता सकते न? तभी तो मैं कहता हूं कि—

सागर! मैं तुममें समा जाऊं।
आनन्द! मैं तुममें डूब जाऊं।

और आनन्द, बहुत-सी शिकायतें हैं, बहुत-सा रोना है तुमसे। हाँ, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। हमसे और तुम पाओगे भी क्या? हजारों वर्षों से सिर्फ मनौतियां मांगने वाली इस कौम से भला और कोई आशा भी हो सकती है? किन्तु नहीं, तुम थोड़े ही मानोगे इस बात को? तुम तो हमेशा आशाओं से भरे हो। सच कहूं तो इस समय तुम ही आशा हो!···और मैं शिकायतों से, आक्षेपों से, मांगों से भरा हूं। इतना कि कहो तो दर्जनों शिकायत-पुराणों, आक्षेप-ग्रंथों की रचना कर डालूं। तुमसे छिपा तो है नहीं। अच्छी तरह जानते हो कि आज का आदमी सिर्फ एक शिकायत बनकर रह गया है। आदमी है ही शिकायत। और इन्हीं आदमियों में मेरा भी शुमार है। इसीलिए, हे आदमियों के पार! मैं भी शिकायत करता हूं और मेरी सबसे बड़ी शिकायत है कि धर्म बड़ा दुरूह है। मैं मानता हूं कि तुमने उसे सरल बनाने का भरसक प्रयास किया है किन्तु प्रयोगों के प्रभु! वह सरल हुआ नहीं। लगता है कि है, पर है नहीं। पूरा का पूरा मार्ग कंटकाकीर्ण और अन्धकार पूर्ण है। संदेह और अनिश्चय ही मार्ग में लगे मील के पत्थर हैं। और तुम तो और भी निराश करते हो, यह कह कर कि मार्ग है ही नहीं। फिर भी कहते हो कि मेरे पास आओ, मेरे साथ आओ। आते हैं तो कहते हो कि मरो! मरो ताकि प्रभु के मन्दिर में प्रवेश हो सके।···अमृत का लालच देने वाले महामृत्युन्जय! मैं कहता हूं कि मैं मरा तो अमृत का स्वाद तो ऐसे ही मिल जायेगा फिर तुम्हारी कौन-सी मेहरबानी! अदृश्य में, अनन्त में हमसे छलांग लगाने की कहते हो, क्या इसीलिये नहीं कि लौटकर

हम तुम्हें परेशान न करें, बोर न करें ?·····अरे छलांग के लिये उकसाने वाले छलावे ? अब तुम ज्यादा दिनों तक हमें धोखा न दे सकोगे क्योंकि मिल गया है वह महामन्त्र—

आनन्द, मैं तुममें डूब जाऊं।
सागर, मैं तुममें समा जाऊं।

और सागर, हजारों वर्षों से धर्म की राह में बड़ा भारी धोखा चला आ रहा है—परीक्षा का। धर्म बड़ा सावधान, बड़ा चालाक है। जब जब उसकी सत्यता पर, उसके अस्तित्व पर संदेह की ऊंगली उठी तब तब हे धर्मराज ! 'यही परीक्षा है' कहकर धर्म की तो प्राण-रक्षा की गयी और धर्म के पीछे जाने वालों की मिट्टी पलीद की गयी, बखिया उधेड़ी गयी। जो कष्ट, जो दुख, जो यातना, धर्म के पीछे जाने वालों को दी गयी, वह दुनिया के इतिहास में बेमिसाल है ! नहीं, मैं बुद्ध की बात नहीं करता, महावीर की भी नहीं, जीसस और रजनीश की भी नहीं। मैं तो महज एक साधारण आदमी की बात करता हूं, अपनी स्वयं की बात करता हूं। धर्म की पुनर्प्रतिष्ठा में संलग्न मेरे बाप ! बताओ, धर्म पर कभी जरा सा चिंतन करता हूं या भूले बिसरे कभी कोई संकल्प कर बैठने की नादानी कर बैठता हूं तो क्या बात है कि दुनिया भर की तमाम बाधाएं झपटकर गर्दन धर दबोचती हैं ? धर्म का नाम-भर लो और दुखों की विकट वर्षा भहराने लगती है। फिर धर्म से मुंह चुराने लगो तो सुनायी पड़ता है कि यही परीक्षा है। मैं पूछता हूं, इस माडर्न-एज में जबकि परीक्षाएं लेने की नई-नई हजारों तरकीबें ईजाद हो चुकी हैं, धर्म के पास अभी भी वही बाप-दादों के जमाने के ही हथियार हैं ? धर्म अभी भी मोरध्वज बनाता घूमता है ? धर्म अभी भी तारामती के पुत्र का कफ़न चुराता रहता है ? धर्म अभी भी बालि की गर्दन नापकर ठहाके लगाता है ? और इन सब पर तुर्रा यह है कि तुम कहते हो कि अब की धर्म का उदय सुख से होगा। सुख से होगा, मैं नहीं जानता। यह जरूर दिखायी देता है कि छोटा-मोटा सुख अगर होगा तो वह भी छिन जायेगा। परीक्षा है कहकर सितम ढाने वाले शहंशाह ! मैं तुम्हारे पैरों पड़ता हूं, हाथ जोड़ता हूं, गिड़गिड़ाता हूं, पूछता हूं, कि बताओ धर्म से अधिक क्रूर भी इस पृथ्वी पर और कोई भी है ? और क्या इसीलिए धर्म चूल्हों के पीछे छिपकर नहीं जा बैठा ? क्या इसीलिए धर्म बदनाम नहीं हो गया ? क्या इसीलिए धर्म का नाम लेने मात्र से लोगों को उबकाई नहीं आने लगती ? और फिर भी न जाने क्या बात है कि रजनीश पैदा होते हैं। रजनीश के भक्त भी पैदा होते हैं। और धर्म के लिए पागल बनाने और बनने का एक कभी न खत्म होने वाला

सिलसिला चलता है, चलता रहता है। बेवकूफ़ चिल्लाते हैं, घोषणा करते हैं—रजनीश आये, आनन्द लाये। आनन्द लाये ऐसा, जिसका दूर-दूर तक कहीं कोई ठिकाना नहीं। कोई पता नहीं।·····डेड लेटर आफिस का पता है। और लोग उन्मत्त हो नाच रहे हैं, चीख रहे हैं। और इस नक्कारखाने में तूती की आवाज कोई भी नहीं सुन रहा है कि—

सागर, मैं तुममें समा जाऊं !
आनन्द, मैं तुममें डूब जाऊं !

और आनन्द, कैसा है यह विचित्र आनन्द जो दिखायी नहीं देता, सुनायी नहीं देता, पकड़ में नहीं आता, किन्तु जिसको छू सकने का, पा लेने का एक उन्माद सब पर छा जाता है। उन सब पर जो तुम्हारे बारे में सुन भर लेते हैं। सुन लेते हैं और बेकाम दौड़ पड़ते हैं। गिरते, पड़ते, कूदते, फांदते-हवा को मुट्ठी में कसने को आतुर, क्या-क्या सहन नहीं करते ये लोग। देखो, न जाने कितनी राधाएं बौराई भटक रहीं हैं। कितनी मीराएं उपहास का लक्ष्य बनी हुयी हैं। न जाने कितने अर्जुन युद्ध-क्षेत्र से भाग चुके हैं। न जाने कितने सुदामाओं की रोती झोलियां हवा में फड़फड़ा रही हैं। तुम्हें दया नहीं आती ? तुम्हारा दिल जरा भी नहीं पसीजता ? तुम आदमी हो या कृष्ण की बांसुरी ? जड़, मृत, बांस की बांसुरी। बस, बन्द करो। मत छेड़ो वह मधुर तान। क्या हो गया है तुम्हें ? मैं कहता हूं बन्द करो। लगता है तुम भी पागल हो गये हो ! एकदम पागल ही हो। हां-हां, बजाओ। और बजाते चले जाओ।·····तुम्हारी इन्हीं अदाओं पर ही तो सारा जहान कुर्बान है, मेरे महबूब ! सच कहता हूं, कसम से !—

आनन्द, मैं तुममें डूब जाऊं।
सागर, मैं तुममें समा जाऊं।

और सागर, यह तो मैंने सुना है कि कवियों की पागल जाति गागर में सागर भरती है किन्तु यह मैंने कभी नहीं सुना कि सागर का जन्मदिन भी मनाया जाता है।·····तुमने सुना है क्या ? मनाने की बात तो दूर, मैं तो यह भी नहीं जानता कि सागर का जन्मदिन भी कोई है ? जो पहले था, अभी है, और आगे भी रहेगा, भला उसका भी कोई जन्मदिन हो सकता है ? और जन्म-दिन मनाया जा सकता है ? कैसे ना-समझ हैं ये लोग। है न ? क्या कहा ?·····देखो, देखो, इस तरह से मेरा मज़ाक न उड़ाओ। अच्छा जाओ। कह दो। बता दो सबको। हां-हां मैं भी नासमझ हूं। एकदम बुद्धू हूं।·····जाओ, जाओ, क्या बिगाड़ लोगे तुम मेरा। मैं भी मनाता हूं जन्म-

दिन, बस ! अब तो तुम्हारी छाती ठंडी हुयी न ? अरे जाओ। कौन छीन सकता है मेरी दिवाली ? किसकी छाती में इतने बाल हैं कि मेरी होली पर कर्फ्यूआर्डर जारी करे ? ·····मैं तो सिर्फ यह कह रहा था मेरे उत्सवों के सरताज ! कि सागर को एक छोटे से दिन में बांधा नहीं जा सकता। तीन सौ पैंसठ दिन भी कम पड़ते हैं तो फिर एक ग्यारह दिसम्बर को लेकर मैं क्या करूं ! क्या करूं ? क्या करूं ?·····सिर्फ एक ही रास्ता बाकी है। सिर्फ एक ही बात कर सकता हूं कि—

सागर, मैं तुममें समा जाऊं।
आनन्द, मैं तुममें डूब जाऊं।

और आनन्द, बहुत से झगड़े अभी करने शेष हैं। सच तो यह है कि अभी तो झगड़ा शुरू ही किया है। पर मजबूरी है। न समय की छाती में हृदय होता है और न सम्पादक की। बहुत कुछ कहना चाहता था, बहुत कुछ खरी-खोटी सुनाना चाहता था। अभी तो शिकायतों की हनुमान पूंछ दिखाना शेष है। मांगों की द्रोपदी-चीर अभी प्रदर्शित करना रह ही गयी है। पर चिंता न करो। ओ मृत्यु सिखाने वाले ! विश्वास करो, मैं अभी जल्दी मरने वाला नहीं हूं। मैं भी आशाओं से भरा हूं। तुम्हारी और मेरी आशाएं भिन्न हो सकती हैं किंतु भरा हूं आशाओं से ही। उन आशाओं से, जिनसे तुम्हारी रातों की नींद हराम कर दूंगा। चिढ़ते क्यों हो ? तुम्हीं तो कहते फिरते हो कि जो दोगे वह अनन्त गुना होकर लौटेगा। तुमने हमारी नींदें नहीं बरबाद की हैं क्या ?·····कितने आराम से कुम्भकर्णी-निद्रा में मस्त पड़े रहते थे हम लोग। आह, वे भी क्या दिन थे !·····खैर, मैं आशाओं से भरा हूं, अभी तुम सिर्फ इतना ही जान लो। [इससे ज्यादा जानना खतरनाक होगा। तुम्हारे लिए नहीं, मेरे लिए !] और उन अनन्त आशाओं में एक आशा यह भी है कि—

आनन्द, मैं तुममें डूब जाऊंगा।
सागर, मैं तुममें समा जाऊंगा।

१२ / ३४६, बेलासिस ब्रिज
तारदेव, बम्बई : ३४

उनके खिलाफ मुकदमा : किस अदालत में ?

—लाल प्रताप

विशेषांक के लिए प्रभु-सम्बन्धी कोई संस्मरण मैं भी लिखूं, ऐसी मेरी तीव्र आकांक्षा है, पर मेरे पास वे तो नहीं हैं। हां, कुछ-कुछ प्रभु-संबंधित और कुछ-कुछ प्रभु-प्रेमी संबंधित संस्मरण सरीखा मेरे पास अवश्य कुछ है। और हैं उनसे ही जुड़ी हुई अतीत की मेरी कतिपय भूलें जो आज मेरी मधुर-पीड़ा का कारण बन गई । आज मैं उनकी ही याद ताजी करूंगा।

गंभीर रूप से बीमार पड़ जाने के बाद नौकरी आदि प्रायः छोड़-छाड़कर इलाज के सिलसिले में उन दिनों मैं अपने बड़े भाई साहब के पास जबलपुर में था। प्रभु भी तब जबलपुर में ही रहते थे—बम्बई मुख्यावास न हुआ था। यही वह वक्त था जब भाई सा० को प्रभु के सान्निध्य का सौभाग्य मिल रहा था। भाई सा० पूरी तरह 'आचार्यमय' हो रहे थे। जब देखो, जिससे देखो बस एक ही विषय, एक ही चर्चा—'आचार्य जी ऐसा कहते हैं,' 'आचार्य जी वैसा बताते हैं,' 'आचार्य जी ऐसे हैं,' 'आचार्य जी वैसे हैं,' 'आचार्य जी जो कहते हैं वह कभी, कहीं भी, किसी रूप में कहा ही नहीं गया (आचार्य जी के अतिरिक्त जो कुछ भी किसी ने कहा है सब व्यर्थ, बकवास—कूड़ा-करकट था उनकी दृष्टि में.....)'। 'आचार्य जी का आज यहां प्रवचन है,' 'परसों फलां विभाग के फलां अधिकारी के बंगले पर गोष्ठी थी,' आदि-आदि...। बस हरदम उनकी ही बातें। और कहना न होगा कि भाई सा० हर सम्भव प्रयास करके हर जगह पहुंचते भी थे। कई बार ऐसी गोष्ठियों में भी जा पहुंचते जिनका बहुत कम प्रेमियों को पता होता। जहां केवल उच्चश्रेणी के अधिकारी होते और आमतौर पर इन जैसी मध्यमश्रेणी व साधारण वेष-भूषा के ये अकेले ही प्रेमी होते।

हां तो उन दिनों भाई सा० पर आचार्य श्री का नशा सा छाया रहता। उनके पास यदि कोई चर्चा होती तो वह आचार्य जी की। आचार्य जी के समर्थन में वे अंध-श्रद्धालुओं की तरह दुराग्रह की सीमा तक

भी जाते। मैंने भी इधर-उधर का बड़ा अध्ययन किया था, और पर्याप्त क्षेत्रों में अच्छी जानकारी रखता था, गीता-रामायण का भी बड़ा पुजारी था और तब मैं निश्चित ही जानकारियों को ही ज्ञान समझता था। लिहाजा भाई सा० से यदा-कदा तर्क-वितर्क हो जाया करता (अक्सर तो मैं ऐसे क्षणों को आत्म-दमन करके भी बचाता)। कहना न होगा कि मेरे तर्कों से भाई सा० को लाजवाब होना पड़ता। शायद जानकारी (तथाकथित ज्ञान) मेरी बड़ी थी, और इसीलिए निश्चित ही मेरा अहं भी। और यही एकमात्र कारण था कि ज्यों-ज्यों भाई सा० प्रभु की बड़ाई करते या उनकी दृष्टि समझाने का प्रयास करते त्यों-त्यों मैं प्रभु की ओर खिंचने के बजाय और दूर हटता जाता। मेरे जैसे और भी कई अहमी दोस्त थे भाई सा० के जो उनकी निरंतर बढ़ती हुई 'आचार्यमयता' के कारण ही उनसे कटने लगे थे। यद्यपि अब मैं सोचता हूं, भाई सा० कितनी करुणावश हम अंधकार में रहने वालों को ज्वलन्त सूर्य की ओर उन्मुख करने का प्रयास करते थे। मुझे प्रवचनों आदि में जाने को प्रेरित करते। कहते-'तुम तो एकदम ही 'फ्री' हो, अभी न कोई काम है तुम्हारे पास न कोई दिक्कत, तुम तो हर प्रवचन पता लगा-लगाकर अटेन्ड किया करो'। प्रभु के निवास पर भी जाने को बहुत तरह से बहुत बार प्रेरित करते। पर मैं था कि बस टाल-मटोल ही करता, जाता कभी न। यद्यपि प्रभु के प्रति मेरी इतनी उदासीनता-हां, विरोध नहीं उदासीनता-में मेरे गहरे अहं के अतिरिक्त मेरे दयनीय स्वास्थ्य का भी कुछ कम हाथ न था। इस सब के बावजूद कहीं अन्दर ही अन्दर मैं प्रभु की तरफ खिंच भी रहा था। छुप-छुपकर (भाई सा० से) 'क्रांति-बीज' पढ़ी जाने लगी थी। एकाध बार भाई सा० ने पढ़ते देख लिया तो ऐसे खिल उठे जैसे उन्हें न जाने क्या मिल गया हो। किताब पढ़कर मैंने उन पर कोई बड़ा एहसान कर दिया हो-ऐसे भाव में भर उठते।

शहीद-स्मारक में प्रथम बार मुझे प्रभु को देखने व सुनने का सौभाग्य मिला। हम कुछ लेट पहुंचे थे। प्रभु मंच पर विराजमान थे। नीचे-ऊपर हाल खचाखच भरा था। मुश्किल से पीछे की ओर खड़े होने की जगह मिल पाई। मैं केवल प्रभु को देखता रह गया था। और प्रवचन तो अद्भुत ही रहा।

दूसरी बार दर्शन 'विक्रम-छात्रावास' में हुए। प्रवचन-समाप्ति पर हाल से बाहर निकलते ही बहुतेरे छात्रों व अन्य प्रेमियों ने प्रभु को घेर लिया। यहां प्रभु के मंच के बाहर वाले घरेलू रूप का भी कुछ दर्शन मिला। वैसी आत्मीय हंसी, वैसी मनोहर मुस्कान मैंने कभी किसी पर देखी

न थी जो लोगों से बात करते वक्त उनके मुख–मण्डल पर विराज रही थी। एक से एक भद्र पुरुष व महिलाएं आ–आकर प्रभु के चरण छू रहे थे। मैं कुछ दूर ही खड़ा था। मैं अब भी निकट जाकर उस परम पुरुष के चरण छूने की हिम्मत न जुटा पाया और घर को लौट पड़ा था।

प्रभु के तीसरे प्रवचन के सम्बन्ध में गलत जानकारी के कारण बड़ा भटकाव रहा। इस बार मैं अकेले ही निश्चित स्थान पर निश्चित समय पर पहुंचा। परन्तु वहां तो सर्द नीरवता के अतिरिक्त कुछ भी न था। प्रभु के प्रेम की जो गर्मी कुछ दूर से ही मिलने लगती थी वह वहां कहां थी ? कुछ देर की परेशानी के बाद केवल इतना भर पता चल सका कि वहां कोई प्रवचन न था। उस रोज भी प्रवचन शहीद स्मारक में ही था जो कि बाद में सही पता चला।

इसके बाद एक बार हम मेडिकल कालेज से लौट रहे थे। अचानक भाई सा० प्रस्ताव रखते हैं—'चलो इसी तरफ से चलें और आज प्रभु से तुम्हें मिलाते भी चलें।' इस बार मुझे भी बात रुचिकर लगी।

बस छोड़ने पर प्रभु का निवास प्रायः आधी मील पड़ता था। रेल्वे लाइन पार होते ही प्रभु का निवास ज्यों—ज्यों दिखने लगा, त्यों–त्यों मेरा दिल धड़क रहा था। जाने कैसा तो मुझे लग रहा था। और हम पहुंचने को ही थे कि उधर से ही आते भाई सा० के एक मित्र मिल गये। और फिर वज्र–पात का वह क्षण ! हां, मैं उसे वज्र–पात ही कहूंगा। उस दिन, उस समय वह ऐसा ही लगा था मुझे जब उन्होंने बताया कि प्रभु कहीं बाहर गये हैं। पेड़ पर से गिरा होऊं ऐसा लगा था।

अभी मैंने 'क्रांति–बीज' के अतिरिक्त प्रभु की अन्य कोई पुस्तक पूरी न पढ़ी थी। इसी बीच मैंने प्रश्नों की एक लिखित शृंखला तैयार की प्रभु के समक्ष कभी पेश करने के लिए। उनमें मैंने अत्यन्त सशक्त तर्क भरे थे और तब मैं सोचता था—'एक बार तो जरूर ही आचार्य जी भी चकरा जायंगे इन प्रश्नों का कुछ भी जवाब देने से पूर्व।' ओह ! यह तो अब है जबकि मैंने समझा कि वह प्रश्नावली मैंने खुद उसी के लिए तैयार कर रखी थी जिससे ही कि तर्कों, कुतर्कों और अतर्क का जन्म है। इन सबका अस्तित्व ही उसी से है। उन प्रश्नों को कभी पेश कर सकता इसके पूर्व ही अचानक मुझे गांव चले आना पड़ा। दो वर्ष बाद 'आजोल–शिविर' से वापिस होने पर भाई सा० का गांव आना हुआ। प्रभु की ओर प्रेरित करने के लिए अब भी यदा–कदा प्रभु के सम्बन्ध में कुछ बताने लगते। मैं पहले की ही भांति बहस बढ़ाने व अपने तर्क पेश करने की कोशिश करने लगता—हां, ऐसा ही तो

मानस में भी लिखा है बहुत पहले से ही, 'गीता में भी तो फलां स्थल पर ऐसा ही लिखते हैं' आदि-आदि। पर इस बीच भाई सा० बहुत बदल चुके थे—वे वही न थे। ऐसा अवसर दिखते ही वे बड़े मधुर ढंग से वह प्रसंग ही समाप्त कर देते। इस सबसे मैं प्रभावित हुए बिना न रह सका।

भाई सा० वापस जा चुके थे नौकरी पर। इस बीच प्रभु को मैं जो समझने लगा था वह सच था या गलत इस सम्बन्ध में बहुत सीधा एवं निर्भीक प्रश्न लिए हुए जीवन का मेरा पहला पत्र प्रभु के पास जाता है—बम्बई के पते पर। प्रभु के पत्र के लिए मेरी उतनी उत्सुकता न थी (जैसे पत्र का आना सुनिश्चित ही रहा हो) जितना मेरा ध्यान इस ओर था कि देखें प्रभु इन बातों के जवाब में लिखते क्या हैं ? हां, मेरे जीवन में यह एक ऐतिहासिक पत्र था। प्रभु का जवाब क्या होता है, कैसा होता है मेरी बातों का, इसी बात पर मेरे जीवन का अगला कदम-या कहें मेरा आगे का जीवन निर्भर था। जीवन में एक मोड़ आने वाला था। या इस पार या उस पार वाली बात थी। मेरे पत्र का जवाब या तो 'हां' में हो सकता था या 'न' में, ऐसा बांधा था प्रश्न को। और इसी 'हां' या 'न' पर मेरे जीवन में बहुत कुछ होने वाला था—क्रांति हो जाने वाली थी। या तो मैं सदा के लिए प्रभु का हो जाने वाला था और या फिर सदा के लिए—कौन जाने कितने जन्मों के लिए उन्हीं खूंटियों में और मजबूती से चिपक जाने, बंध जाने को तैयार था, जिनमें कितने अगणित जन्मों से बंधा रहा हूं—इसे तो वे प्रभु ही जानें। और वही हुआ जिसकी कल्पना भी न थी। आशातीत शीघ्रता से मेरे पत्र का-मेरी पुकार का-जवाब आया। और आश्चर्यों का आश्चर्य ! मेरी बातों का जवाब न 'हां' में था, न 'न' में था। जवाब 'हां' और 'न' दोनों के बीच में कहीं था जिनमें दोनों ही अपनी पूरी समग्रता में समाये थे, एक साथ। और हाय ! मैं वहीं-बस उसी क्षण, सदा के लिए लुट गया। प्रभु ने ही मुझे लूटा था। उनके विरुद्ध मुकदमा भी किस अदालत में चल सकता था ? अस्तु खामोश···बस खामोश।

अब मेरे पिछले सारे प्रश्न गिर चुके थे। 'प्रश्नावली' जो अब तक कहीं सुरक्षित पड़ी थी फाड़ दी गई। प्रभु के पास फौरन मेरा दूसरा पत्र जाता है। इस बार भी जवाब उतनी ही शीघ्रता से आता है जिसमें प्रभु द्वारा ध्यान के लिए एकमात्र निर्देश था। पर मैं ध्यान की प्रक्रियाओं से अपरिचित था। प्रभु के पत्र में तत्सम्बन्धी जो इशारे पा सका उन पर भर अमल करता रहा।

इस सबके २–३ माह बाद पूना में प्रभु के साक्ष्य में संन्यास की घोषणा करने के बाद भाई सा० पहली बार गांव लौटे थे। उन्होंने ध्यान की प्रक्रियाओं से मुझे परिचित कराया एवं उन्हीं की देख–रेख में मैंने ध्यान का समारम्भ किया जोकि निरंतर चल रहा है।

अब मुझे पिछली भूलों की याद आने पर हर्षमिश्रित पीड़ा होती है-हंसी भी आती है सोचकर कि मैं प्रभु से—जगत्पिता से ही दूर छिटकता फिरता था। अब कभी–कभी प्रभु–दर्शनों के लिए बड़ी आकुलता भी जगती है और सोचता हूं जब प्रभु–दर्शन इतने सहज थे तो इतना मान–इतना गर्व कि दूर भगता था और अब जब दरस उतने सहज नहीं, तो इतनी प्यास·····इतनी आकुलता। पर शायद इतनी प्यास, इतनी तड़प कुछ दे ही जाये।

बात बहुत लम्बी हो गई इसका स्पष्टीकरण भी बात को लम्बी करना ही है। अस्तु, क्षमा।

परन्तु मैं यह बात बताए बिना भी नहीं रह सकता कि मेरे वे प्यारे–प्यारे भाई सा० अन्य कोई नहीं, आपके 'युक्तांद' के प्रस्तुत विशेषांक के सौजन्य सम्पादक स्वामी अगेह भारती ही हैं।

और एक हल्की सी हास्य—पहेली के साथ मैं अपनी बात पूरी करना चाहूंगा। पहेली है :—

'कहने से आते नहीं, न कहने से आते,
आते ही गौर करो, गायब हो जाते।'

हां, हां, बतलाइये कौन हैं ये जादुई श्रीमान् ?

अन्त में मैं सब कुछ उन प्रभु को समर्पित करता हूं जिनका कि यह जन्म–दिवस आया है, यद्यपि मुझे सन्देह है कि उनका कोई जन्म या जन्म–दिवस भी है।

(पहेली का अपना उत्तर नीचे से मिलायें)

गांव—भुड़हा
पत्रालय—सांगीपुर,
जिला—प्रतापगढ़
(अवध)

(अवध : प्रतापगढ़)

छुहारों ने छुड़ाया

— साधु आनंद संगम

१० अक्टूबर १९७१, रविवार का दिन, मैंने वुडलैंड जाने की तैयारी की। एकाएक ख्याल आया कि भगवान श्री के लिए नये छुहारे, जो अभी अभी आये हैं, साथ लेता जाऊं कुछ छुहारे पैकेट में डाले और लोकल ट्रेन से ग्रांटरोड स्टेशन के लिए चल पड़ा। ग्रांटरोड के पहले बाम्बे सेन्ट्रल स्टेशन पड़ता है। मैं वहां उतर पड़ा। बाम्बे सेन्ट्रल में प्रिय मित्र ब्रह्मदत्त का निवास स्थान है। मेरा उनसे परिचय मनाली शिविर में हुआ था, तब से मेरा उनका सम्पर्क बराबर बना हुआ है। और इतवार के दिन प्रायः वुडलैंड जाते समय उनसे मिल लिया करता हूं। उनके घर के बच्चों से भी प्यार हो गया है। सभी मुझे चाचाजी कहकर पुकारते हैं और बहुत प्रेम करते हैं। आज जब उनके घर पहुंचा तो उनकी छोटी बेबी, जोकि बड़ी अच्छी साधिका है (उम्र करीब चार साल है) मुझे देखकर 'संगम-संगम' कहकर पुकारना शुरू कर दिया। न मालूम किसकी प्रेरणा से उसने ऐसा कहा, मैं उस वक्त न समझ सका। थोड़ी देर में ब्रह्मदत्त और मैं वुडलैंड को जाने के वास्ते निकल पड़े। रास्ते में ध्यान के ऊपर विचार चलते रहे। बातों, बातों में मैंने उन्हें कह दिया कि मैंने भगवानश्री के जन्म-दिवस यानी ११ दिसम्बर को साधु बनने का फैसला किया है।

अब हम लोग वुडलैंड पहुंच गये। सबसे पहले मा योग लक्ष्मी के दर्शन हुए (वह अब मेरी धर्म की बहन भी हैं) उनके हाथों में छुहारों का लिफाफा दिया। हम लोग एक ओर बैठ गये। थोड़ी देर में मां योग लक्ष्मी उन छुहारों को वहां उपस्थित लोगों में बांटने लगीं, यह कहकर कि भगवानश्री का प्रसाद है। हम लोगों को भी मिला। वहां मा कृष्ण-करुणा भी हाजिर थीं। बातचीत में वे बोलीं कि अब तो तुम दोनों को भी साधु हो जाना चाहिए। ब्रह्मदत्त कुछ बोले नहीं और मैंने अपना निश्चय बताया किन्तु अब तक पता नहीं क्या वातावरण बन चुका था कि कोई मेरी सुनने को तैयार नहीं था।

वहां हाजिर सभी संन्यासियों ने मा कृष्ण-करुणा के प्रस्ताव का बड़े जोश-खरोश के साथ अनुमोदन किया। हाथ आयी मुर्गी को बख्शने के लिये कोई तैयार न था! मां योग लक्ष्मी ने तो झटपट दो मालायें भी तैयार कर लीं। और भीतर भगवानश्री तक सूचना पहुंचा दी। अभी भी हम दोनों पत्थर की तरह जाम बैठे थे परन्तु कुछ ही क्षणों में संदेश मिला कि चलो भीतर, भगवानश्री प्रतीक्षा कर रहे हैं। हम दोनों उठे, कराहकर। ब्रह्मदत्त चिल्ला-चिल्लाकर सबको इकट्ठा करने लगे कि चलो, फांसी की सजा देखने चलो। मुझसे बोले कि चाचा, मुझे नहीं मालूम था कि छुहारे खिलाकर मारोगे। बड़ी हंसी हुयी। सब लोग हंसते हुए भगवानश्री के कमरे में आये।

मैं अभी भी दुविधा में पड़ा हुआ था। कोई तैयारी न थी। घरवालों से भी कुछ बोलकर नहीं आया था। बहुत संकोच हो रहा था मगर फिर मन में विचार आया कि फैसला तो साधु बनने का तू कर ही चुका है, सिर्फ तारीख का हेर-फेर है और अब तो भगवानश्री के समक्ष पहुंच गये हैं, चिंता कैसी?

पहले ब्रह्मदत्त जी को मूड़ा गया। उनका नाम बदलने के पक्ष में न तो भगवानश्री थे और न वहां पर उपस्थित लोग। फिर भी साधु का नाम हुआ, साधु आनंद ब्रह्मदत्त। अब मेरी बारी आयी। मैंने थोड़ी हिम्मत जुटायी और भगवानश्री से बताया कि मेरा फैसला जन्म-दिन के अवसर के लिए था। वे मुस्कराये और कहने लगे—तेरा जन्म-दिन आज ही कराये देते हैं। तब तो हंसी की लहर दौड़ गयी चारों ओर। मित्रों ने कहा—इनको छुहारों ने फंसाया। ब्रह्मदत्त बोले—सिर्फ एक छुहारे का गुनहगार हूं भगवानश्री, पर मारा गया!—लोग हंस रहे थे। **मैं भी हंसा मगर मन ने कहा छुहारों ने फंसाया नहीं, छुड़ाया।** जो छलांग महिनों में लगनी थी, वह घटना मिनटों में घट गयी। मैं तो छुहारों को धन्यवाद देता हूं।

यहां पर मैं एक बात का उल्लेख करना चाहूंगा, हालांकि उससे लोग शायद मुझे अंधविश्वासी कहें, किन्तु बात उपयुक्त अवसर की है इसलिये बताना उचित लगता है मुझे। मैंने अपनी जन्म-कुण्डली एक पंडित को दिखायी थी एक बार। पंडित ने कहा कि आपकी आयु वैसे तो लम्बी है मगर सत्तावन साल में ऐसे ग्रह पड़ते हैं, जिससे मृत्यु भी हो सकती है। मेरी आयु इस समय सत्तावन साल की है। मुझे उस पंडित का कथन याद आ रहा है और एक ढंग से देखो तो उसकी बात सच भी हो गयी! आज ठीक समय पर भगवानश्री मुझे नया जन्म दे रहे हैं।

माला पहनने बाद के भगवानश्री ने मुझे नया नाम प्रदान किया—साधु आनन्द–संगम। नाम पाते ही मुझे ब्रह्मदत्त की बेबी की याद हो आयी, जिसने संगम–संगम कह कर पुकारा था। यह भी एक रहस्य हो गया। शायद भगवानश्री ने उसके मुख से पूर्व–सूचना दे दी थी, जिसे उस वक्त मैं न समझ सका था। संयोग से वही नाम मुझे मिला। मैंने मन ही मन बहुत आनन्द का अनुभव किया और प्रभु को धन्यवाद दिया कि कल का काम आज हो गया है। आखिर कल देखा भी किसने है ? उसके बाद मैं भगवानश्री के चरणों में गिर पड़ा। और फिर उनसे बिदा लेकर बाहर आया। अनुग्रह को शब्दों में कैसे क्या लिखा जा सकता है ? मेरे लिए तो वे साक्षात् भगवान कृष्ण हैं।

याद आता है वह दिन, जब मैंने पहले भगवानश्री के दर्शन किए थे। बम्बई के माटुंगा कालेज की बात है। एक मित्र से भगवानश्री के बारे में जानकारी पाकर वहां पहुंचा था। कैसी तो वह दिव्य मूर्ति और कैसी वह मोहक वाणी ! दूसरे दिन ध्यान–प्रयोग में भी शामिल हुआ था। अद्‌भुत था वह प्रयोग। जब सब साधक 'मैं कौन हूं–मैं कौन हूं' पूछ रहे थे तब किसी ने गैलेरी से आवाज दी थी कि तुम भूत हो ! मैंने मन ही मन कहा था कि हां, भूत हैं ! भूत न होते तो यहां आते ? पर तब से साधना में जो रस मिला तो फिर भगवानश्री के प्रवचनों और शिविरों में पहुंचता रहा हूं। उनकी कृपा से नारगोल, मनाली और माऊन्ट आबू के कुछ अविस्मरणीय शिविरों में हाजिर हो सका हूं। वहां उपलब्ध हुए अनुभवों को लिख सकने की सामर्थ्य मेरी लेखनी के परे है। माऊंट आबू में तो मैं भगवान को रासलीला करते ही देख चुका हूं। मेरे लिए अब मंदिर और मस्जिद में कोई फर्क नहीं रहा। मैं तो सिर्फ एक बात जानता हूं कि मुझे मेरे राम, मेरे कृष्ण, मेरे महावीर, मेरे बुद्ध मिल गये हैं। प्रभु को लाख–लाख धन्यवाद !

आखिर में सबको आनन्द–संगम के प्रणाम।

द्वारा–दाताराम रामलाल
३६३, काथा बाजार,
बम्बई–९

मधुर स्मृतियां

पहले आबू शिविर में–राजस्थान सर्किट हाऊस में मैं आचार्यजी से दोपहर संन्यास के बारे में सिर्फ चर्चा करने गया था। मैंने पूछा कि, कपड़े पहनने से क्या फर्क पड़ेगा ? आचार्यजी बोले, "आपके लिये नहीं लेकिन समाज के लिये बहुत फर्क पड़ेगा–आपको पहनना बहुत जरूरी है"। फिर मैं बात टाल न सका और आचार्यश्री ने कुछ बोले बिना माला पहना दी और संन्यास का नया नाम दे दिया। मैं विस्मय से चुपचाप वापिस लौटा।

शिविर के बाद अहमदाबाद गीता-ज्ञान-सत्र में मैं और मीरा आचार्यश्री को उनके निवास स्थान पर मिलने गये। उस दिन बुद्ध–जयन्ती थी और मैंने गेरुए वस्त्र पहन लिए थे। मुझे गेरुए वस्त्र में देखकर रजनीशजी प्रसन्न हुए और पूछा, कि कपड़े पहन लिए ? बहुत अच्छा हुआ। तत्काल मैंने उनसे पूछा कि आप सबको गेरुए वस्त्र पहनाते हैं, लेकिन आप कब पहनने वाले हैं ? प्रत्युत्तर में वे बोले कि, ऐसा मत पूछें, ऐसा पूछें कि, कपड़े कब छूटने वाले हैं ? मैं, मीरा और नरेन्द्र तीनों हंस पड़े और मन ही मन उनकी असीम ऊंचाईयों में विहार करने लगे।

एक बात पक्की है कि, हम चाहे जो प्रश्न पूछें आचार्यश्री अपने ही ढंग से उत्तर देते हैं।

—स्वामी आनन्द निर्वाण के प्रणाम

[जूनागढ़]

व्यंगकार भगवान श्री

—स्वामी अगेह भारती

भगवान श्री क्या नहीं हैं, कहना बहुत कठिन है। उन जैसा प्रेमी, उन जैसा खतरनाक; उन जैसा मधुर, उन जैसा निर्मम; उन जैसा कवि, उन जैसा व्यंगकार ·····और क्या नहीं ?

अभी 'आबू शिविर' में कपिल भइया ने एक बड़ा मजेदार प्रसंग बताया, उसे आप से कहूं। बताया कि [कोई २-२॥ वर्ष पूर्व की बात है] जब उन्होंने दिल्ली में भगवानश्री व मोरारजी भाई देसाई की मुलाकात अरेंज किया तो जब दोनों महानुभाव मिले तो मोरारजी ने कहा: "आप के बाल पकने लगे हैं ?"

भगवानश्री ने कहा, "हां बाल पकना प्रौढ़ता का प्रतीक है न, प्रौढ़ हो रहा हूं ! (वातावरण में एक हंसी)

(पाठक यहां भगवान श्री द्वारा किए गये व्यंग का पूरा मजा न ले पायेंगे अगर यह न बताया जाय कि श्री मोरारजी भाई ने कभी भगवानश्री की अनुपस्थिति में कहा था कि रजनीशजी की उम्र अभी कम है, इसलिए कभी-कभी गड़बड़ बातें कह जाते हैं।)

०००

(और प्रस्तुत हैं स्वामी अगेह भारती द्वारा आगे के सभी संस्मरण जो भगवान श्री के विभिन्न आयामों को स्पर्श करते हैं)

अन्तर्यामी रजनीश जी

वे सब के मन की बातें अलग-अलग समय में व एक समय में एक साथ भी जानते हैं। इसके मुझे इतने अनुभव हैं कि उन्हें लिखने का न समय है, न विशेष रुचि ही। पर आज एक दिन की चर्चा करता हूं।

एक बार एक ही दो दिनों के भीतर मुझे अनेक लोग मिले जो बताये कि अमुक जगह अमुक आदमी नौकरी करता था, एक दिन भगवान की पूजा में तल्लीन था। और ड्यूटी का समय हो गया। फिर भगवान खुद भक्त का वेश धारण कर उसकी ड्यूटी बजा आए। इधर जब भक्त की पूजा समाप्त हुई या कहें उसका ध्यान टूटा तो बहुत समय हो चुका था। दूसरे दिन छुट्टी लेने गया भक्त, तो अधिकारी ने कहा, तुम तो ड्यूटी पर थे। फिर भक्त को लगा कि जब भगवान हमारी ड्यूटी कर गया तो अब मैं भगवान की ही चाकरी करूंगा। अतः वह स्तीफा देता है नौकरी से और भगवान के भजन में लग जाता है रात-दिन। इसी तरह की बातें दो दिन के अन्दर तीन-चार लोगों ने अलग-अलग तीन-चार व्यक्तियों के साथ घटित बतायी, ऐसी सस्ती चीजों में मेरा मन कभी नहीं जाता था पर मन ही तो ठहरा। बार-बार अलग-अलग भक्तों के साथ घटी ऐसी घटनाओं का जिक्र सुनकर अगेह भारती का मन ललचा उठा। मन ही मन हुआ कि हे रजनीश ! एक दिन ऐसा हो कि मैं एकदम-ध्यान मग्न हो जाऊं और तू मेरे वेश में मेरी ड्यूटी कर आये तो ही शायद मैं पूरा समर्पण कर पाऊं, तो ही शायद पूरी श्रद्धा को उपलब्ध होऊं। इतना ही नहीं, मेरे मन में हुआ कि हे रजनीश ! तब मैं समझूंगा कि तू परमात्मा है।

दूसरे दिन भगवान श्री का भाषण था। भाषण के दौरान भी मेरे मन में वही ख्याल आया। और तभी भगवान ने भयंकर डाट लगाई और कहा कि "……लेकिन हम तो चाहते हैं कि भगवान हमारी नौकरी बजा आए। कहते हैं, हे भगवान! तू मेरी नौकरी कर, तब मैं समझूं कि तू है। भगवान को क्या गर्ज पड़ी है कि तुम्हें समझाए कि वह है……।"

यह सुनकर मेरा कलेजा काँप गया और अपनी गलत आकांक्षा से मुक्ति भी मिल गई। हे अन्तर्यामी! तेरे चरणों में शत् शत् प्रणाम!

०००

७६०, राइट टाउन : एक शाम

[२४ अक्टूबर '७१ संध्या ७ बजे श्री अरविन्द के निवास–७६० राइट टाउन–पर, मा योग क्रान्ति, मा प्रेम रश्मि (रमा जी), अरविन्द भाई एवं अगेह भारती।]

अगेह भारती : आज २४ अक्टूबर हो गयी, एक भी संस्मरण विशेषांक के लिये नहीं आया है।

मा योग क्रान्ति : (हंसती हैं) अच्छा, एक भी रचना नहीं आई!

अगेह भारती : हां, नहीं आई। कई लोगों के पत्र आये हैं जिनमें उन्होंने भगवान श्री के बाबत लिखने में असमर्थता जाहिर की है। लुधियाना की कुसुम ने तो पूरा कोरा कागज भेजा है।

क्रान्ति : (खूब मौज से हंसते हुये) कोरा ही क्यों नहीं जाने देते विशेषांक ?

अगेह : अगर रचनायें न आईं और मेरे भीतर से भी कुछ न निकला तो कोरा ही जाने वाला है इस बार……! (सब खूब हंसते हैं)

अगेह : ऐसा करिये, आप सब इस बार संस्मरण दीजिए अपने। रश्मि जी, आप लोगों के पास इतने कीमती संस्मरण होंगे और इतने ज्यादा कि उन्हें जब तक दुनिया को न दे देंगी तब तक मुक्त होना मुश्किल है।

रमा : (हंसती हुयी) शिव भाई, मैं लिख नहीं सकती।

क्रान्ति : भई तुम सुना दो संस्मरण, लिख तो शिव खुद लेंगे।

रमा : न लिख सकती हूं, न सुना सकती हूं। (पागलों सी हंसती है। सब हंसते हैं।)

अरविन्द : भई रमा, संस्मरण दो अपना, वर्ना शिव भइया क्या करेंगे बेचारे ! विशेषांक निकालने की सूचना प्रकाशित कर चुके हैं !

रमा : (बच्चों सी ठुनकती हुयी हंसती है) ना बाबा, मुझसे न लिखा जायगा ।

क्रान्ति : शिव भाई, बहुत पहले की बात है एक बार भइया एक गांव में आमंत्रित थे । कार से जाना हुआ । गांव से डेढ़ मील दूर ही लोग बैण्ड बाजों के साथ अगवानी के लिये खड़े थे । भइया कार से उतरे तो बैण्ड बाजे बज उठे और वे बैण्ड बाजों के बीच उड़ती हुयी धूल से घिरे पैदल चल पड़े । चलकर ही उन्हें पता चला कि जहां उनकी अगवानी की गयी वहां से गांव डेढ़ मील दूर था । (खूब हंसी)

रमा : शिव भाई, क्या संस्मरण बताऊं, भइया ने मिन्टू (रमा जी का बच्चा) को दूध पिलाया है एक दिन । मिन्टू को झूला तो बहुत बार झुलाया है उन्होंने ।

अगेह : इस तरह बताने से संस्मरण नहीं तैयार हो सकता । हां, मैं अकेला जरूर मजा ले सकता हूं । भई, आगे पीछे का पूरा वर्णन करो न, तुम कहां थीं, क्या कर रही थीं जब भगवान श्री ने दूध पिलाया मिन्टू को?

रमा : सुनो अच्छा, एक बार जिज्जी व मैं परेशान हो गयी स्टोव न जलता था । बड़ी देर परेशान हुये पर वह न जला । तब भइया आये । कहने लगे लाओ मैं जला देता हूं । उन्होंने हवा पम्प किया और जलाया तो सचमुच जल गया । और मालूम है कैसे पम्प करते थे ? जैसे हम आंधी–पानी की तरह जल्दी–जल्दी करते हैं वैसा नहीं । वे बड़े प्रेम से धीमे–धीमे और पूरा पम्प करते थे । इतनी शांति से कि उतनी शांति से तो हम बच्चे को गोद में भी नहीं लेते ।

क्रान्ति : भइया जब पढ़ाते थे तो कपड़े खुद धोते व प्रेस करते थे । और वे इतने साफ हुआ करते थे कि कालेज में लोग अकसर उनसे पूछते कि आप कपड़े कहां से धुलवाते हैं ?

अगेह : इतने सुन्दर–सुन्दर संस्मरण हैं आप इन्हें लिखती क्यों नहीं ।

क्रांति : शिव भाई, सब भूल जाती हूं । तुमने छेड़ दिया है तो एकाध जो ख्याल में आ रहे हैं तुमको सुनाये दे रही हूं ।

एक बार जब भइया की नौकरी की बात थी, भोपाल गये तो वहां 'कैरेक्टर सर्टिफिकेट' मांगा गया । तो उन्होंने कहा, "मेरे पास कैरेक्टर

सर्टिफिकेट तो नहीं है। आप कैरेक्टर सर्टिफिकेट का करियेगा भी क्या, क्योंकि अकसर कैरेक्टर सर्टिफिकेट देने वालों का 'कैरेक्टर' ठीक नहीं है।"

वह अधिकारी खूब हंसा पर उसने कहा : कैरेक्टर सर्टिफिकेट तो किसी भी हालत में होना जरूरी है।

भइया ने कहा : अच्छा तो मैं 'ट्रू कापी' बनाये देता हूं।

अधिकारी : Original कहां है ?

भइया : Original जबलपुर लौटकर बनवा लूंगा। अभी ट्रू कापी आपको मैं किये देता हूं।

अधिकारी : जब Original ही नहीं है तो 'ट्रू कापी' कैसे व किस की करियेगा ?

भइया : ट्रू कापी मैं किये देता हूं। कापी 'ट्रू' है यह जिम्मा मेरा है। मैं Original यहां से लौटकर बनवा लूंगा।

और भइया ने तत्क्षण उस कैरेक्टर सर्टिफिकेट की True copy बनाया जो कि थी ही नहीं।···वहीं उन्हें नियुक्ति मिल गयी। फिर जबलपुर लौटकर जब प्रोफेसर सक्सेना से सारा किस्सा बताये और 'ओरिजिनल' बनाने को कहा तो वे खूब हंसे।

भइया ने कहा : मैंने तो कुछ खास लिखा नहीं उसमें, आप लिखते तो ज्यादा ही लिख जाते। प्रोफेसर सक्सेना खूब हंसे और हंसते-हंसते जैसा इन्होंने 'डिक्टेट' किया वैसा उनने 'ओरिजिनल' बनाया। शायद ऐसा कभी न हुआ हो कि True copy पहले Original बाद में।

क्रान्ति : भइया को कोई शारीरिक कष्ट हो, तकलीफ हो तो कभी किसी से कहते नहीं। कई बार ऐसा हुआ कि बुखार है किसी से बताये नहीं। अचानक किसी का हाथ कहीं छू गया तो वह कहेगा, अरे, आप को तो बहुत तेज बुखार है, तो भइया कहेंगे, हां, थोड़ा गर्म हो गया है शरीर।

इसी तरह एक रात में भइया को 'कालरा' हो गया। [नेपियर टाउन वाले मकान में रहते थे तब] उन्हें कै–दस्त लगे। उन्होंने किसी को न जगाया। अकेले टट्टी जाते, हाथ धोते, अकेले बाहर जाते कै करते···हाथ–मुंह धोते। मैं जरा सी आवाज से भी जग जाया करती हूं पर उस दिन नहीं जगी। इससे पक्का जानती हूं कि वे जाते–आते इतना आहिस्ता कदम रखते रहे कि किसी की नींद में बाधा न पड़े।

आखिर में उनकी यह हालत हो गयी कि बिस्तर से उठना मुश्किल हो गया। तो धीमे से पुकारा : 'मौनू'। मैं झट उठी। देखा तो उनकी यह हालत हो चुकी थी। बहुत कमजोर हो चुके थे। मैं अरविन्द को जगाने

लगी डाक्टर बुलवाने को तो कहने लगे, सोने दे, क्यों उसकी भी नींद खराब करेगी। लेकिन मैं नहीं मानती, अरविन्द को जगा देती हूं। अरविन्द भइया की इतनी कमजोर हालत देखकर घबड़ा उठते हैं। वे देवकी नन्दन जी (पड़ोसी) को जगाते हैं। देवकी नन्दन जी आते हैं तो भइया कहते हैं, आप आराम करिये, सब ठीक हो जायगा, ये लोग मुफ्त में परेशान कर रहे हैं। लेकिन देवकी नन्दन जी को भी भइया के बाबत पता था अतः वह रात में ही एक डाक्टर के पास गये। उससे दवा ले आये। रात भर में ४–५ बार दवा दी गयी तब सुबह तक कालरा कंट्रोल हो सका।

थोड़ी देर की चुप्पी के बाद—

अगेह : आप सब का हृदय से आभारी हूं कि आप सब ने इतने सारे संस्मरण सुनाये हालांकि गिनती में ये केवल चार ही हैं। (सब हंस पड़ते हैं)

०००

वे कितने प्यारे हैं !

बात २ अगस्त १९६९ की इलाहाबाद रेलवे स्टेशन के प्रथम श्रेणी प्रतीक्षालय की है जो कि ऊपर पहलो मंजिल पर है। 'प्रभु जी' के साथ लुधियाना जा रहा था।·····तो इलाहाबाद प्रतीक्षालय में प्रभु जी को कुर्सी पर [ईज़ी चेयर नहीं] जिस तरह बैठकर ट्रेन की प्रतीक्षा करनी पड़ी, वह मुझसे देखा नहीं गया। अतः सामने की कुर्सी से मैं उठकर चुपचाप बाहर निकल गया और टहल–टहल कर रात बिता दिया। सबेरे ४–४॥ के लगभग मैं प्रतीक्षालय गया तो 'अटेण्डेण्ट' ने बताया कि वे (प्रभु जी) तो कुछ मिनट हुए सामान उठवाकर प्लेट फार्म पर जा चुके हैं। मैंने देखा तो कोई 'लगेज' वहां न था। मैं करीब–करीब भागता हुआ प्लेट फार्म पर आया। प्रभु जी के पास इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुछ युवा व्याख्याता बैठे थे। प्रभु जी कुछ बोल रहे थे। मैं चुपचाप उनके पीछे खड़ा हो गया। मैं मन ही मन बड़े संकोच में था कि उन्हें मेरा सूटकेस, होल्डाल व फेल्ट हैट आदि उठवाकर ले आना पड़ा। होना तो यह चाहिए था कि मेरे रहने से उन्हें सुविधा होती, पर उल्टा···! मैं बड़ा संकोच अनुभव कर रहा था और अपनी नालायकी से खुद ही बड़ा क्षुब्ध था। कि अचानक प्रभु जी पीछे की ओर मुड़कर कहते हैं : "शिव ! जरा पता करना गाड़ी ज्यादा लेट हो गई क्या ?" शिव मन ही मन श्रद्धा से भर गया और भीतर नाच उठा कि प्रभु जी कितने प्यारे हैं !! उन्होंने यह नहीं पूछा कि शिव कहां गए थे, जो कि स्वाभाविक था। उन्होंने कितने प्यार से कहा : शिव ! जरा पता करना·····।

०००

भगवान ही नहीं आदमी भी

लगभग ३ वर्ष पूर्व की बात है, भगवान श्री कहीं बाहर से लौटे। स्टेशन पर लेने तो शिव गया ही था दूसरे दिन संध्या घर पर–कमला नेहरू नगर–मिलने गया। साथ में नारायण भी थे।

शिव से पूछा गया : 'कामता सागर का घर मालूम है?' उसने कहा : 'हां'। भगवान श्री वहां चलने वाले हैं। चार–पांच दिन हुये, सागर जी की पत्नी का निधन हो गया था।

तभी टेलीफोन की घण्टी बजती है। क्रांति फोन अटेण्ड करती हैं। कोई बम्बई की आर्टिस्ट सिन्धी लड़की आज ही मेल से जबलपुर आयी है। मिलने आना चाहती है। उससे कहा गया कि वह कल सुबह ८॥ बजे आ जाय या अपरान्ह में २॥ बजे। अभी भगवान श्री बाहर जा रहे हैं। उसने हां तो कर लिया पर उसे चैन नहीं आया। अतः जैसे ही हम चलने को हुये कि वह लड़की आ पहुंची। भगवान श्री चलने के लिये खड़े हो चुके थे। सो पुनः बैठे गये। १०–१२ मिनट उससे प्रेम से बातें हुयीं। कभी भी मैंने भगवान श्री को अधैर्यपूर्वक या जल्दबाजी में बात करते नहीं देखा। उसी तरह उस दिन भी उसके असमय में आई हुई होने के बावजूद मजे से बातें हो रही हैं। लड़की बताती है कि आज वह बाल–बाल बच गयी। जिस डिब्बे में बैठी थी, उसके बगल वाले डिब्बे का चक्का गर्म हो गया था। चलती गाड़ी में धुंआ निकलने लगा। गाड़ी खड़ी की गई। उस डिब्बे को काट दिया गया वर्ना वह डिब्बा पटरी से उतर जाता। भगवान श्री ने कहा ! "तेरे डिब्बे का चक्का गर्म हुआ होता तो मजा आता।" सब हंस पड़े। वह भी खूब हंसी।

१० मिनट बाद हम चल दिये सागर जी के घर को। गाड़ी भगवान श्री खुद चला रहे हैं। शिव, नारायण पीछे बैठे हैं। वह लड़की भगवान श्री के बगल में बैठी है। वह "सिन्धु भवन" में ठहरी है जो कि रास्ते में ही है अतः उसे वहां छोड़ा। गाड़ी फिर चल दी है। पीछे सीट पर शिवनारायण का हाथ दबाता है, नारायण शिव का ! भगवान गाड़ी चला रहा है और हम बैठे हैं कितने भाग्यवान हैं हम !!

आ गया कामता सागर जी का घर। कामता सागर, उनके छोटे भाई व अन्य सभी एक साथ दौड़ पड़े भगवान श्री को लेने। और सच कह रहा

हूं। हालांकि मेरे कहने से शायद ही किसी को विश्वास पड़े। असल में सत्य सदा अविश्वसनीय है। खैर–तो ३०–४० मिनट में यह हालत वहां की हो गयी कि अगर कोई नया व्यक्ति वहां आता तो बिना बताये यह नहीं जान सकता था कि चार दिन पहले ही कामता सागर की युवा पत्नी स्वर्गवासी हो गई है। वहां मृत्यु नहीं जीवन ही जीवन प्रतीत होता था। भगवान श्री ने ऐसी–ऐसी दो–चार छोटी–छोटी घटनायें व कहानियां कहीं कि सब हंस कर मजा लेते थे। कामता सागर भी, उनके भाई भी व उनके परिवार के सभी सदस्य। इस तरह हंसाते–हंसाते भगवान श्री कामता सागर जी को मृत्यु पर पेण्टिंग कर डालने की ओर–सृजनात्मकता की ओर–प्रेरित कर चले वहां से।

भगवान श्री जैसे खुद चलते हैं–पैर जैसे फूल पर पड़ते हों, वैसी ही प्यारी कार भी चलाते हैं। हम दोनों तो पीछे बैठे–बैठे पागल से हुये जा रहे थे। आखिर शिव ने प्रभु से पूछा : "यह काम–क्रिया किस मतलब का होता है ? मैं इसलिए पूछ रहा हूं कि, मुझे लगता है, कभी मुझे ऐसा अवसर आया तो मैं तो यह सब न कर सकूंगा। भगवान श्री गाड़ी चलाये जा रहे हैं। गाड़ी दायें को घुमा रहे हैं और बोलते जा रहे हैं : "बड़ा मतलब है, उसका मनोवैज्ञानिक अर्थ व प्रयोजन है। जब कोई एक परिवार में मरता है तो अचानक सब कुछ ठहर जाता है। एक गैप पड़ जाता है। जैसे गाड़ी का चक्का चलते–चलते जाम हो जाय। तो जब हम काम–क्रिया करने में लगते हैं तो वह चक्का जो जाम हो गया था, धीरे–धीरे चलना शुरू हो जाता है। और फिर कुछ दिनों में सामान्य रूप से चलने लगता है। वर्ना एक आदमी के मरने से इतना बड़ा गैप पड़ जाता है कि बहुत कठिन हो जाय मामला। तो दूसरे काम में तो संलग्न करना मुश्किल है। इसलिये क्रिया–कर्म जैसे कार्य में संलग्न करने के उपाय खोजे गये। तो इसका बड़ा प्रयोजन है, पर है मनोवैज्ञानिक। इसके अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है।

हम कमला नेहरू नगर पहुंच गये हैं। प्रभु जी के साथ कुछ देर बैठकर वापस लौट पड़े हैं। साइकिलें बड़ी हल्की चलती सी लग रही हैं। शिव ने मन ही मन कहा : वे भगवान भी हैं, मनुष्य भी हैं और सब कुछ हैं !!

०००

उनकी बेफिक्री

यह ६ जुलाई '७० की डायरी का अंश है जो यहां लिखने जा रहा हूं—

एक जुलाई का 'युक्रांद' सामने है। पन्ने पलटता हूं। पहले पृष्ठ पर देखता हूं—'महत्वपूर्ण' शीर्षक के अन्तर्गत आचार्य श्री के बम्बई प्रस्थान की सूचना तथा वहां का पता लिखा है। यहां सिर्फ 'सूचना' लिखा जाना उपयुक्त रहता। आगे बढ़ता हूं। पृष्ठ १५ पर "अमृतसर में आचार्य श्री की तूफानी क्रान्ति" शीर्षक पढ़कर हैरानी होती है। तूफानी क्रांति का मतलब लाख प्रयत्न करके भी नहीं समझ पाता। अरविन्द भइया सामने ही हैं। उनसे पूछता हूं। मैंने उनसे ज्यादा सरल आदमी नहीं देखा है। वे कहते हैं—'भइया वैसे ही लिख गया मैं कोई अर्थ वर्थ नहीं समझता।'

मैं मन ही मन सोचता हूं—पहले भी कई बार उल्टे-पल्टे शीर्षक देखा हूं पत्रिका में। किसी प्रवचन के पूर्व 'एक मौलिक प्रवचन' 'एक महत्वपूर्ण क्रांतिकारी प्रवचन' आदि लिखा रहता है जैसे कि आचार्य जी का कोई प्रवचन मौलिक नहीं है जैसे कि उनका कोई प्रवचन महत्वपूर्ण अथवा क्रांतिकारी नहीं है। कई बार इतना गलत अर्थ देने वाली बातों व शब्दों का दुरुपयोग देखता हूं कि क्षोभ हो उठता है। मगर आचार्य श्री के बारे में सोचता हूं जो कभी इन त्रुटियों के लिए कुछ कहते नहीं। उन त्रुटियों के लिए जिन्हें सामान्य स्तर का आदमी भी अपने स्तर के नीचे की बात मानेगा। मगर आचार्य जी को इस सब की जरा भी फिक्र नहीं। शायद फिक्र इसलिए नहीं है कि सत्य कभी फिक्र नहीं करता कि कौन आकृष्ट होगा, कौन भड़क जायेगा। वह जानता है कि 'जो भड़क जायगा, वह भी वहीं आयेगा जहां मैं हूं। वह भी मुझसे ही मुझमें ही है।' मैं अज्ञानी हूं इसलिए ही छोटी-छोटी बातों पर दुखी होता हूं कि समझदार पढ़ने वाले भड़क जायंगे, यह होगा, वह होगा।

०००

हर इच्छा पूरी होती है

हंसी में भी प्रभु जी से कोई कुछ कह दे तो भी उसकी इच्छा पूरी होती है, ऐसा मैंने अनुभव किया है।

ऐसे ही एक बार शिव ने कहा था : "आचार्य जी, प्रेम तो खूब देखा है आपका। कभी एक बार गुस्सा करें, गुस्से में आपका रूप देखने को जी करता है।" उन्होंने उस दिन हंस दिया था और कहा था अच्छा·····अच्छा है। और बात आई–गई हो गई।

कुछ ही दिनों बाद आचार्य जी का कहीं बाहर से आना हुआ। दोपहर की डाकगाड़ी पर सभी आचार्य जी को लेने गए। शिव भी गया। उन दिनों उसकी दशा कुछ ऐसी थी कि वह आचार्य जी के लिए तड़पता भी रहता और सामने भी पड़ने से बचता रहता। आचार्य जी स्टेशन से बाहर आ गए, कार में बैठ गए। कार छूटने को हुई तब शिव ने प्रगट होकर एक सफेद लम्बा लिफाफा आचार्य जी की ओर बढ़ाया। आचार्य जी ने एक क्षण के लिए हंसी को रोककर, गम्भीर मुद्रा में इतना ही कहा : "यह क्या है ?" हालांकि उन्होंने इतना कहने के बाद लिफाफा ले भी लिया, कार चली भी गई पर शिव तो जैसे जड़ हो गया। खड़ा रह गया। एकदम सफेद हो गया। भीकम जी ने उसे हिलाया और चलने को कहा तो वह एकदम रुआंसा सा हो गया। सड़क पर बीचों–बीच ऐसे चलने लगा जैसे सड़क पर वह अकेला ही चल रहा है। भीकम जी ने सम्भाला उसे। और कहा : भाई यह तो अजीब गोपी है। आखिर कहा क्या उन्होंने ? शिव ने लगभग रोते–रोते कहा : तुम नहीं समझ सकते उन्होंने क्या कहा। वे क्या कहेंगे। वे कह भी क्या सकते हैं। असल में दुख मुझे इस बात का है कि मेरी गलती इतनी भारी थी कि गर्दन उड़ा देनी थी पर वे तो गर्दन उड़ाए नहीं, ऐसे ही छोड़ गए। वे कहां–कहां से थककर आए होंगे। रास्ते में गाड़ी में कितनों ने दिमाग चाटा होगा। और मैंने पहुंचते ही लिफाफा पकड़ा दिया। मैं कितना नासमझ हूं। कितना प्रेम रहित हूं। हाय ! मुझ प्रेम रहित व नालायक को वे प्रेम ही क्यों करते हैं ?

हे भगवन, आज तो मैंने भारी गलती की। अब मैं कैसे जिऊं ? किस लिए जिऊं ? अब मेरे प्राण निकल क्यों नहीं जाते ? एक ही प्रेमी था जो कभी खिन्न नहीं हुआ था। आज अपनी बेवकूफी से उसे भी खिन्न

कर दिया। ऐसी बेवकूफी किया ही क्यों कि मेरे प्रियतम को खिन्न होना पड़ा। तभी धीरे-धीरे याद आया। जैसे कोई कह रहा हो कि खिन्न नहीं हूं, तू मेरा गुस्सा देखना चाहता था न ? और मैं कांप गया। हे प्रभु ! जरा सा अनमना चेहरा तुम्हारा इतना मुझे पागल बना देगा, पहली बार मुझे पता चला। तुम सही में गुस्सा पड़ जावो तब तो मैं जी ही नहीं सकता। नहीं मेरे प्रभो, अब कभी मुझ पर गुस्सा मत पड़ना ! किसी पर मत पड़ता! !

०००

इतनी निर्भीकता क्या बताती है ?

कुछ वर्षों पूर्व की बात है कि आचार्य श्री को दिल्ली की किसी संस्था ने आमन्त्रित किया। काशी विश्वविद्यालय की कोई महिला प्रोफेसर भी वहां पहुंचीं। उन्होंने आचार्य श्री से कहा : "रात मैं आप ही के कमरे में सोऊंगी।" आचार्य श्री ने कहा : "ठीक है, सोना।" और रात वह महिला आचार्य श्री के कमरे में सोई।

प्रातः आचार्य श्री प्रवचन स्थल पर गए (और वह महिला भी गई) तब किन्हीं लोगों ने महिला प्रोफेसर के सामान वगैरह आचार्य श्री के कमरे से हटाकर पृथक कर दिया। जब महिला वापस आई तो अपना सामान वहां से अलग हटाया हुआ पाकर रोने लगी। आचार्य श्री के पूछने पर उसने बताया : "मेरा सामान यहां से हटा दिया गया है और मैं तो आपके कमरे में ही सोऊंगी।" आचार्य जी ने लोगों से इस बाबत पूछा तो किन्हीं मित्रों ने बताया कि सामान उन्होंने हटाया है क्योंकि एक स्त्री और पुरुष एक कक्ष में नहीं रह सकते। इस पर वह महिला और भी बच्चों सी रोने लगी और उसने कहा मैं सोऊंगी तो आचार्य जी के ही कक्ष में अन्यथा किसी ट्रेन से अभी वाराणसी लौट जाऊंगी। और कि, मेरा अपमान किया गया है। आचार्य जी ने उन मित्रों से कहा : "वह मेरे कमरे में सोना चाहती है और मुझे ही कोई आपत्ति नहीं है तो आप लोगों को क्यों चिंतित होना चाहिए ?" लेकिन उन मित्रों ने कहा : "हमारी संस्था के नियम के यह विपरीत है कि स्त्री व पुरुष को एक ही कमरे में सोने दिया जाय।" आचार्य जी ने कहा : "तो ठीक है, मैं भी चला जाता हूं, उसी के साथ"। और यह कहते हुए आचार्य जी उठ गए। तभी लाला सुन्दरलाल जी आचार्य श्री को अपने निवास पर ले आये।

फिर इस बात को लोगों ने खूब तूल दिया और आचार्य श्री को अखबारों के माध्यम से यथाशक्ति बदनाम किया, देश की सभ्यता, संस्कृति व नैतिकता आदि की दुहाई दे-देकर।

बाद में अहमदाबाद के कुछ प्रेमी मित्रों ने आचार्य श्री से कहा कि इस तरह तो लोग आपको चरित्रहीन समझेंगे और संत नहीं समझेंगे। इस पर आचार्य जी ने जो कहा उसे सुनकर मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। क्योंकि शास्त्रों का खण्डन करना मेरी दृष्टि में उतनी निर्भीकता की बात नहीं है। सारी संस्कृति और सभ्यता को गलत कहने में भी उतनी निर्भीकता की बात नहीं है। अतीत के सारे महापुरुषों को अधूरा कहना भी उतने साहस की बात नहीं है जितना कि सारे आरोपों और लांछनों को सीधे अपने सिर पर ले लेना। आचार्य जी ने क्या कहा ? उन्होंने कहा--**"मैंने चरित्रवान होने का दावा कब किया है ? मैंने संत होने का दावा कब किया है ?"**

सवाल उठता है कि इतनी निर्भीकता क्या बताती है ? कोई कुछ भी समझे, प्रत्येक कुछ भी समझने को स्वतन्त्र है। किसी को मेरे विचार से प्रभावित होने की आवश्यकता नहीं। पर जहां देश में तमाम हजारों-हजार लोग अपने विचार सही या गलत व्यक्त कर रहे हैं वहां मेरे विचार (सही या गलत) व्यक्त हुए बिना कैसे रह सकते हैं। और सौभाग्य ही कहूंगा अपना कि 'युक्रांद' मेरी कुछ बातें छाप देता है। अस्तु :

मेरी आत्मा की गहराइयों में दो बातें साफ दिखती हैं। एक तो यह कि वहां उपस्थित लोगों में किसी के हृदय में उतना प्रेम आचार्य जी के लिए न था जितना उस महिला के। कोई पुरुष भी इतने प्रेम में न था कि कहता कि मैं आप ही के पास सोऊंगा। और वह महिला को कितना प्रेम न रहा होगा कि हिन्दुस्तान जैसे गंवार देश में भी (जहां लांछनों के सिवा क्या मिल सकता है) उसे किसी चीज का ख्याल न रहा और एक ऐसे प्रेमी का जी दुखाना-किसी भी कीमत पर आचार्य जी जैसे साक्षात् प्रेम स्वरूप के वश के बाहर की बात है।

दूसरी बात मुझे यह दिखती है कि वह जो साधु नहीं है, वह चारों ओर सारे आयोजन कर रहा है कि साधु समझा जाय और वह जो परम साधु है उसे फिक्र ही नहीं कि कोई उसे क्या समझता है। ठीक भी है। सिद्ध सदा असत्य ही करना चाहता है कि मैं सत्य हूं। सत्य तो स्वयं सिद्ध है। ठीक वैसे ही, जैसे कि कोई पुरुष यह नहीं सिद्ध करना चाहता कि मैं स्त्री नहीं, पुरुष हूं। क्योंकि वह जानता है कि वह तो है ही। और अगर कोई पुरुष सिद्ध करने की कोशिश करने लगे कि वह पुरुष है तो समझदार आदमी सचेत हो जायगा कि जरूर कुछ गड़बड़ है। ०००

बीमारी को भी सहयोग

२९ सितम्बर १९७१। प्रातः १०–४० बजे। माउण्ट आबू। राजस्थान सर्किट हाउस। बगीचे में कुर्सी पर बैठे हैं भगवान श्री। सामने हरी–भरी दूब पर बैठी हैं मा योग क्रांति, कुसुम व कपिल एवं अगेह भारती। वही का एक वार्तालाप—

अगेह भारती : 'प्रभु जी, बम्बई में आपका स्वास्थ्य अक्सर ठीक नहीं रहता क्या ?'

भगवान श्री : 'हां, अभी तो ऐसा ही लगता है। देखता हूं दो—चार महीने।'

कपिल : 'प्रभु जी, 'डिवाइन हीलिंग' का प्रयोग आप पर नहीं किया जा सकता ?'

भगवान श्री हंसते हैं और हंसते हैं। फिर हंसते हुए ही कहते हैं : "वह मुझ पर सम्भव नहीं है। असल में मेरे भीतर कहीं ऐसा भाव नहीं है कि बीमारी चली जाये। यह तो मित्र लोग डाक्टर के पास ले जाते हैं तो चला जाता हूं। डाक्टर दवा देते हैं तो ले लेता हूं। तुम जो भी करते हो स्वीकार लेता हूं। पर बीमारी भी जब आती है तो उसी तरह स्वीकार होती है और भीतर गहरे में कहीं ऐसा भाव नहीं है कि बीमारी चली जाये। इसलिए मेरे साथ बड़ी दिक्कत है। इसलिए कोई भी बीमारी मेरे पास आती है तो ठहर जाती है। उसे भी सहयोग मिल जाता है। डाक्टर परेशान होते हैं क्योंकि वे उस रोग से हजारों को मुक्ति दिला चुके होते हैं। और वही रोग मेरा नहीं ठीक होता। तो हीलिंग तो मेरे लिए सम्भव नहीं है (खूब हंसते हुए) क्योंकि हीलिंग के प्रयोग में रोगी का यह भाव जितना गहरा होगा कि रोग जा रहा है, मैं रोगमुक्त हो रहा हूं, उतना ही उसे तत्काल लाभ होगा। तो मेरे लिए तो हीलिंग सम्भव नहीं है। [उपस्थित प्रेमियों के हृदय आर्द्र हो उठते हैं और आंखों की कोरें गीली। रोग के प्रति भी इतनी करुणा ! इतना स्वीकार !!]

०००

बहुत तलों पर जीना पड़ता है

यह बात २–२॥ साल पूर्व की होगी। भगवान श्री बाहर से लौटे हैं। गाडरवारा रास्ते में पड़ा है। पिता जी की तबीयत अधिक खराब है। स्टेशन पर निकलंक आये थे पर उन्होंने भगवान श्री से यह नहीं बताया कि तबीयत ज्यादा खराब है। उन्होंने थोड़ी तबीयत खराब होने का संकेत किया तो भगवान श्री ने कहा–पीछे किसी गाड़ी से जबलपुर ले आओ। वहां इलाज हो जायगा।

जब निकलंक भाई वापस घर गये और पिता जी ने देखा कि उनका रजनीश उनके ज्यादा बीमार होने पर भी कुछ घण्टों को यहाँ न उतरा, तो वे बड़े दुखी हुये। उनकी आंखें भी गीली हुईं। अन्ततः निकलंक को ट्रंक करना पड़ा और पूरा किस्सा भगवान श्री को फोन पर बताना पड़ा।

दोपहर जबलपुर स्टेशन पर मैं 'भगवान श्री' को लेने गया था शाम घर गया मिलने तो भगवान श्री ने बताया कल शाम को मेल से गाडरवारा जा रहा हूं। एक या डेढ़ दिन में लौट आयेंगे।

दूसरे दिन संध्या : जबलपुर प्रथम श्रेणी प्रतीक्षालय में बैठे डाक गाड़ी की प्रतीक्षा ·····। मैं मन ही मन सोच रहा था–क्या इनका भी कोई पिता है ? क्योंकि मुझे लगता था कि इनका कोई पिता अथवा कुछ भी नहीं है पर जो जितनी व जैसी अपेक्षा उनसे करता है उतना नाटक उन्हें करना पड़ता है। मैं बड़ी करुणा से भर गया कि इन्हें नाटक करना पड़ता है ! अतः मेरी आंखों की कोरों में एकाध बूंदें निकल आयीं साथ ही प्रभु जी से पूछ पड़ा–'क्या आपको दो तलों पर जीना पड़ता है' उत्तर था : "बहुत तलों पर जीना पड़ता है ! बहुत तलों पर जीना पड़ता है" !!

०००

एक दिन की बात

१८–७–६९ की बात है। भगवान श्री बम्बई जा रहे थे। हम सब उनके डिब्बे के सामने उन्हें घेरे खड़े थे। तभी एक १० वर्ष का लड़का आया और गिड़गिड़ाता हुआ सा भिक्षा मांगने लगा। भगवान श्री ने कहा– "जाओ···बार–बार नहीं।" लड़के ने पहचान लिया कि यहां से तो अभी

कुछ ले गया हूं। अतः वह जाने को हुआ। लेकिन तभी ४-६ मित्रों ने एक साथ तेज आवाज में-"चलो, चलो, आगे बढ़ो····" कह दिया और वह लड़का न केवल जाते-जाते रुक गया वरन् एक मित्र के पैर पर सिर भी रख दिया। उन्होंने उसे कुछ सिक्के दिये तभी वह वहां से हटा। एक मित्र ने कहा : "बड़ा जिद्दी था"। भगवान श्री ने मुसकाते हुये कहा : "वह तो जाने को ही था, पर कई लोगों ने एक साथ "चलो भागो" कह-कह कर उसके स्वाभिमान को चोट पहुंचा दिया और वह रुक गया।

चलते-फिरते

०००

प्रभु जी जबलपुर रहते थे तब की बात है। बम्बई से श्री पोहूमल नामक एक प्रेमी जबलपुर आये थे। प्रतिदिन सुबह-शाम 'प्रभु जी' से प्रश्नोत्तर वार्ता चलती थी कोई एक सप्ताह तक। एक दिन श्री पोहूमल जी 'प्रभु जी' के साथ चित्र उतरवा रहे थे। चित्र उतारने वाले थे जबलपुर के श्री शशिन यादव। शशिन जी ने बहुत अनुग्रह पूर्वक प्रभु जी से कहा : "आचार्य जी आप कुछ बोलते हुए रहें, प्लीज।" और प्रभु जी, पोहूमल जी की ओर मुखातिब तो थे ही, बोलने लगे—"यह जो मैं क्रांति की बात करता हूं तो क्रांति का मतलब यह नहीं है कि मैं जो कह रहा हूं वही अंतिम है, वही हमेशा रहेगा। नहीं, मेरी दृष्टि में **क्रांति का मतलब ही है सतत परिवर्तन। हर क्षण नये होने की क्षमता।** यह जो मैं कहता हूं वह सब भी आगे व्यर्थ हो जायगा। जिस समाज को लाने की बात मैं करता हूं वह भी सड़-गल जायेगा। फिर दूसरा नया आयेगा। तो **क्रांति का अर्थ है गति, तरलता।**"

चित्र लिए जा चुके हैं। प्रभु जी मुस्काते हुए कुर्सी पर से उठ गये हैं। और मैं सोचने लगा हूं कि प्रभु जी चलते-फिरते भी जो बोल जाते हैं वह इतनी कीमत का होता है कि उसे खोकर हम बहुत कुछ खो देते हैं।

०००

सफर गलत डिब्बे में उर्फ नींद में भी जागे हुए

मार्च, १९६९, पटना जा रहे हैं प्रभु जी, द्वितीय विश्व हिन्दू धर्म सम्मेलन में भाग लेने। साथ में हैं क्रांति, चौकसे और यह भाग्यवान जो इन पंक्तियों को लिख रहा है। इलाहाबाद स्टेशन के एक प्लेट फार्म पर ही बैठकर हम गाड़ी की प्रतीक्षा कर रहे हैं। प्रभु जी टहल रहे हैं। क्रांति ने कहा :

जिस ट्रेन में रिजर्वेशन है वह तो काफी लेट है। यह ट्रेन जो अभी आने वाली है इसमें अगर जगह मिल जाय तो इसी से क्यों न चल दिया जाय। चौकसे जी को भी यह बात पसंद आई। तभी ट्रेन आकर खड़ी हो गई। प्रभु जी भी आ गए। क्रांति व चौकसे ने अपनी इच्छा प्रगट की। प्रभु जी ने सहमति दे दी। चौकसे व क्रांति ने शयनयान में बिस्तर जमाये। एक प्रथम श्रेणी के डिब्बे में मैंने प्रभु जी व अपने लिए जगह देखी। प्रभु जी ने सूटकेश से चादर व तकिया निकाला। मैंने बिस्तर लगाने के लिए प्रभु जी के हाथ से चादर ले लिया। बिस्तर लगाने में उन्होंने मुझे सहयोग दिया। प्रभु जी 'बी' कम्पार्टमेण्ट में हैं। उसी डिब्बे के 'सी' कम्पार्टमेण्ट में मैंने अपना बिस्तर खोल दिया। और जब प्रभु जी के पास पुनः आया तो उन्होंने कहा : शिव, यह पूरा डिब्बा खाली है, इसमें हमीं दो यात्री हैं, जरा पता करना कहीं यह डिब्बा बीच में कट जाने वाला तो नहीं है। मैंने प्लेट फार्म पर जाकर पता किया तो सचमुच पता लगा यह डिब्बा मुगलसराय कट जायगा। मेरे तो होश फाख्ता हो गए। मैं ही तो प्रभु जी का सामान उठवाकर जल्दी ही उस डिब्बे में ले आया था। मैंने जब प्रभु जी से लौटकर बताया तो उन्होंने कहा हमें यह गाड़ी छोड़ देनी चाहिए और अपनी ही गाड़ी से चलना चाहिए। इस गाड़ी से चलने में समय से पहले भी पहुंच जाना होगा जो कि ठीक नहीं। मैंने कहा लेकिन अब ट्रेन छूटने को है और इतना समय नहीं है कि क्रांति व चौकसे को उतरने को कहूं और वे बिस्तर समेटकर उतर सकें। ठीक तभी ट्रेन चल दी। प्रभु जी ने कहा "चलो, अब तो आज रात भर का जागना हो गया। पता नहीं, इस गाड़ी में दूसरे डिब्बे में जगह मिल सकेगी मुगलसराय में या नहीं ? फिर पता नहीं वह गाड़ी (जिसमें रिजर्वेशन था और जो लेट थी) मुगलसराय होकर ही जाती है या नहीं। क्योंकि अगर इस गाड़ी के किसी दूसरे डिब्बे में जगह न मिली मुगलसराय में तो इसे छोड़ना पड़ेगा। तुम लोग मुझे अच्छा फंसा देते हो।" उस समय उस गलत डिब्बे में होने का मुझे दुख भी था मगर प्यारा भी लग रहा था क्योंकि प्रभु जी मुसकाते हुए बड़े प्यार से कह रहे थे कि "तुम लोग मुझे अच्छा फंसा देते हो।"

मैंने कहा : आपको जगने की जरूरत नहीं है, आप सो जायं, अब मैं वैसे भी न सो सकूंगा। अतः बैठा ही रहूंगा। मुगल सराय पहुंचने के पहले मैं यह सब पता करके रखूंगा कि दूसरे डिब्बे में जगह मिल सकेगी अथवा नहीं। और कि पीछे छूटने वाली गाड़ी मुगलसराय होकर जाती है या नहीं ? अगर नहीं जाती तो दूसरी ट्रेन कब मिलेगी या दूसरा क्या उपाय हो सकता है समय से पहुंचने के लिए। प्रभु जी ने कहा, तो तुम जगते हो ? अच्छा तो यह सब

पता लगा लेना, मैं सोताहूं। मैंने 'जी हां' कहा और प्रभु जी लेट गए। बर्थ पर दायीं करवट लेटे। उनकी दोनों हथेलियां एक-दूसरे के ऊपर तकिए व उनके गाल के बीच में थीं। उनका एक पैर दूसरे पैर के ऊपर आधा मुड़ा हुआ था तथा ऊपर वाले पैर का पंजा बर्थ से थोड़ा बाहर तक फैला हुआ था। मैं डिब्बे के बाहर निकला। दरवाजा पूरा बन्द करने के बजाय थोड़ा सा खुला ही रख छोड़ा ताकि जब चाहूं प्रभु जी को देख सकूं। अब मैं अपने कक्ष में आकर बैठ गया। फिर क्षण भर बाद ही जाकर देखा प्रभु जी उसी मुद्रा में सो गए हैं। फिर बार-बार अपने कक्ष में बैठा हूं और बार-बार उठ-उठकर उन्हें सोते देखा हूं। **उन्हें सोता देखकर एक अजीब सुख की अनुभूति होती थी मुझे।**

फिर जहां भी गाड़ी खड़ी होती मैं उतरकर पता करता। इस गाड़ी में जगह मिल जाय, इसकी भी फिक्र करता। आखिर पता चला कि इस गाड़ी में ही जगह मिल जायगी और बाद वाली गाड़ी भी मुगलसराय होकर ही जाती है।

इलाहाबाद से मुगलसराय तक की यात्रा में मुझे क्या खास बात दिखी जिसके लिए यह संस्मरण लिख रहा हूं ? मुझे खास बात यह दिखी कि प्रभु जी इलाहाबाद से ट्रेन छूटने के कुछ क्षणों बाद जिस मुद्रा में सोये थे, मैंने रास्ते भर जहां भी देखा, वे उसी मुद्रा में सोये रहे। वह लगभग ३ घण्टे का सफर था। उस डिब्बे की स्प्रिंग कुछ साधारण से ज्यादा ही चरमराती थी। फिर जहां गाड़ी खड़ी होती, वहां प्लेटफार्म पर उत्तरप्रदेशी भैय्या मुसाफिरों का बेतहाशा शोर, कुछ भी उनकी उस मुद्रा में सोये रहने में बाधा न बन सका। रास्ते में लगभग सभी प्लेटफार्म उसी ओर पड़े हैं जिस ओर प्रभु जी का सिर है और केवल शीशे वाला 'शटर' बन्द है। एक स्टेशन पर तो प्रभु जी के सिर के एकदम पास ही कुछ मुसाफिरों में बड़े जोरों का झगड़ा हो गया। मैं प्लेटफार्म पर खड़ा यही देखता रहा कि प्रभु जी की नींद अब भंग होती है, अब भंग होती है, पर वे निश्चिंत सोये रहे। वे हिले भी नहीं। और हाकरों की "गरम चाय" की प्रखर आवाज तो हर स्टेशन पर प्रभु जी के एकदम पास से गुजर जाती थी। पर प्रभु जी सूत भर भी नहीं हिले-डुले।

फिर जब मुगलसराय आया और मैंने धीमे से दरवाजे को 'स्लाइड' करके तनिक भी आवाज किए बिना खोला और भीतर गया तो क्षण भर को रुक गया। मुझे लगा कि कैसे जगाऊं उन्हें। जिसके लिए भीतर इतना प्रेम अनुभव करता हूं उसे कैसे जगाऊं भला ? क्या बहुत धीमे से, बड़े प्यार से कान के पास आवाज दूं ? कितना भी धीमे से आवाज दूं, आवाज़ कान के पर्दे से टकरायेगी तो। क्या उन्हें धीमे स्पर्श से जगाऊं ? क्या पैर को स्पर्श

करूं ? क्या हाथ को छूकर जगाऊं ? कितना धीमे से स्पर्श करूं कि वे जान भी न पायें ! मगर जान ही न पायें तो जगेंगे कैसे ? इसे लिखने व बताने में देर लग रही है, पर क्षण भर से भी कम समय में ये सब विचार फिल्म की तरह मनमें आए-गए । तभी प्रभु जी ने अपने आप आंखें खोल दीं, और ऐसा लगा जैसे कि वे सोये ही न थे और उन्होंने कहा : "क्यों शिव, पता लगा लिया ?" मैंने कहा : "जी हां, पता लगा लिया । हम मुगलसराय पहुंच गए हैं और इस गाड़ी में जगह मिल जायगी । यहां से पांचवां डिब्बा है प्रथम श्रेणी का ।" और प्रभु जी उठ गये । हमें दूसरे डिब्बे में एक ही कक्ष में जगह मिली जहां कि प्रभु जी तो सोये ही, मुझे भी सोने को मिला । (बेचारी क्रांति व चौकसे को रात भर के नाटक का कुछ पता ही नहीं)

सच ही जो एक बार जाग जाता है वह फिर कभी नहीं सोता । सोता है तब भी नहीं सोता । चेतना जागी ही रहती है सदा, सर्वदा ।

०००

उनकी लीला अपरम्पार है

बात लुधियाना की है । एक संध्या एक प्रीति भोज के समय किन्हीं फालतू कारणों से शिव की अजीब संकोचपूर्ण मनःस्थिति हो गई थी । सब टेबलों के आसपास खड़े-खड़े ही भोजन ले रहे थे । भगवान श्री भी थे । उनसे लगभग तीसरे या चौथे नम्बर पर शिव था । शिव की बगल में जितेन्द्र । शिव ने मन ही मन इतना कष्ट अनुभव किया कि उसने सोचा, काश ! अगर कोई चमत्कार हो जाता या धरती ही फट जाती और वह वहां से अदृश्य हो जाता । और ठीक तभी चमत्कार हो गया । धरती तो नहीं फटी पर उस स्थिति से ही निकाल लिया गया । भगवान श्री ने मुसकाते हुए कहा : "शिव, क्या बात है ? किस संकोच में पड़ गए ?" और बस शिव खिलखिला कर हंस पड़ा । उसका सारा कष्ट दूर हो गया । मनःस्थिति आनन्दपूर्ण हो गई ।

वहां से घर के लिए चले तो गाड़ी में पीछे भगवान श्री के साथ कुसुम बैठी । अगली सीट पर ड्राइवर की बगल में जितेन्द्र व शिव । मार्ग में अचानक शिव को स्मरण आया तो उसने पीछे मुड़कर भगवान श्री से कहा : "प्रभु जी, मैं आप से कुछ नहीं चाहता, बस एक ही चीज चाहता हूं वह यह कि आप की उपस्थिति में मैं इतने अभय में व आनन्द में होता हूं कि मौत मौत नहीं मालूम पड़ती और मैं हंसता ही रहता हूं । अतः चाहता यह हूं कि जब मेरी मौत आए तो आप वहां उपस्थित हो जायं

ताकि मैं आप को देखकर हंस पड़ूं और हंसते-हंसते ही प्राण निकल जायं। कुसुम ने शिव के हाथ को हाथ में लेते हुए कहा : "शिव भाई तुमने तो मेरे मन की बात कह दी। यही तो मैं भी चाहती हूं।" भगवान श्री ने हंसते हुए कहा : "देखो, फिर तुम दोनों एक साथ मत मरना वर्ना मुश्किल हो जायगी" और चलती गाड़ी में कुसुम, जितेन्द्र व शिव हंस–हंसकर लोट–पोट हो गए।

०००

वे कितनी स्वतन्त्रता देते हैं!

लुधियाना से वापसी की बात है। ६ अगस्त की संध्या···। प्रभु जी को विदा देने बच्चन जी, लाला सुन्दरलाल जी, शांतिलाल जी आदि दिल्ली रेलवे स्टेशन आये। मैं प्रभु जी की गाड़ी में था और मैं भी विदा देने ही आया था क्योंकि एक दिन दिल्ली रुकने का मेरा विचार था। जब हमारी कार स्टेशन पहुंची तो प्रभु जी व बच्चन जी क्रमशः पहले उतरे। बच्चन जी ने प्लेट फार्म के बाहर ही प्रभु जी को प्रणाम कर लिया और विदा ले ली क्योंकि उन्होंने घर पर किसी प्रकाशक को समय दे रखा था और वे लेट हो रहे थे। प्रभु जी पलक झपकते में अन्दर प्लेटफार्म पर जा पहुंचे। मैं कार से उतरा तो हक्का–बक्का। एक अजीब धर्मसंकट में पड़ गया। मैं बच्चन जी को छोड़ना नहीं चाहता था। उनके घर भी मुझे जाना था और यह ज्यादा ठीक लग रहा था कि उनके साथ ही चला जाता। क्योंकि दिल्ली मेरे लिए नई जगह होने के कारण बाद में उनका निवास–स्थान ढूंढ़ना और फिर यह भी कि वे घर पर हों, यह सब अपेक्षाकृत असुविधाजनक तो था ही। मगर यह भी समझ में न आता था कि जिन 'प्रभु जी' के साथ छह दिनों से हूं और आज विदा देने स्टेशन आया हूं, उनसे मिले बिना, उनसे बताए बिना, कैसे जाऊं? मैं क्षण भर को अजीब असमंजस व अनिर्णय की स्थिति में पड़ गया। अन्ततः बच्चन जी ने ही उस स्थिति को खतम किया। उन्होंने कहा : "आओ गाड़ी में बैठो और चलो।" मैं बिना किसी सोच–विचार के सीधे बच्चन जी के साथ कार में जा बैठा। तभी मुझे शांतिलाल जी दिखे जो कि कार से लगेज वगैरह कुली से उठवा रहे थे। अतः मैंने उनसे कह दिया कि 'प्रभु जी' को मेरे प्रणाम कहिएगा और मैं बच्चन जी के यहां जा रहा हूं और मैं चला गया। हालांकि मुझे खुद को ही अपना यह व्यवहार बड़ा अटपटा सा लग रहा था। खैर, मैं तीन दिन दिल्ली रहकर वापस जबलपुर आया।

मुझे भय तो 'प्रभु जी' से कभी भी नहीं लगा। जब से उनसे परिचित होने और निकट आने का सौभाग्य मिला, मैंने हमेशा अनुभव किया

है कि वे हमें इतना प्रेम करते हैं कि उनकी अपनी कभी कोई अपेक्षा ही नहीं होती। तथापि इस बार इतना तो जरूर सोचता था कि मिलने पर दिल्ली में मेरे विचित्र ढंग से लापता हो जाने की चर्चा तो करेंगे ही। प्रेम से ही करेंगे, मजाक में ही करेंगे, पर करेंगे। मगर जब मैं जबलपुर आया और प्रभु जी से मिला तो मुझे चकित रह जाना पड़ा। उन्होंने तो पूछा : "दिल्ली में कोई तकलीफ तो नहीं हुई ? अपने सभी मित्रों से मिल लिए वहां ?"

और आज तो मैं कह सकता हूं कि उनके निकट निरंतर जितनी स्वतन्त्रता व प्रेम का अनुभव मैं करता हूं उतना इस जीवन में किसी अन्य के साथ कभी नहीं किया है। **आज मैं उनसे जितना निसंकोच हो गया हूं उतना किसी से भी नहीं हो पाया हूं–अपनी मां से भी नहीं।**

०००

शत्रु के प्रति भी करुणा

अगेह भारती इसे अपना सौभाग्य मानता है कि अनेक स्थानों पर वह प्रभु जी के साथ था जहां उनके भाषणों में बाधा पहुंचाई गई। ऐसे अवसरों पर भगवान श्री का संतुलन, शायद संतुलन शब्द भी ठीक नहीं, उनकी सहजता, देखने जैसी होती है। शत्रु के प्रति भी उनकी करुणा!!···हे आंसुओ! रुक जाओ, लिखने दो। हे मेरे भीतर की आत्मा ! तुम मत पिघलो परमात्मा में विलीन होने को। अभी थोड़ी देर परमात्मा के गुण तो गा लो, फिर विलीन तो हो ही जाना है। जगत में इतने जन्मों से, इतना भटकी है। आज परमात्मा की कृपा हुई है तो क्या उस कृपा के धन्यवाद में नाचे बिना, उसके अनुग्रह के गीत गाए बिना तू विलीन हो जाएगी !!

हां तो, ऐसे ही एक बार भगवान श्री जबलपुर में गांधी पर बोल रहे हैं। बीच में एक मित्र जोर से चीख पड़े–'आचार्य जी, गांधी जी के बारे में कुछ अच्छी बातें भी कहें'। और सारी सभा में कुछ क्षणों को हंगामा सा मच गया। बहुत से लोग उस मित्र पर टूट पड़े और डाटने–डपटने लगे। भगवान श्री ने ही लोगों को शांत किया : "उन्हें कुछ न कहें, उन्हें कुछ न करें। उनकी बात मैंने सुन ली है, आप उन्हें कुछ न कहें।" आह रे वह दृश्य ! आह रे वे करुण उच्चार !! ऐ मेरी कलम तू टूट क्यों नहीं जाती·····जिसके स्मरण मात्र से आंसुएं रुकती नहीं।

अन्ततः सब शांत हो गए। भाषण हुआ। पर भाषण–समाप्ति पर ऐसा सुना गया कि अज्ञात लोगों ने उस मित्र को पीटा। जब प्रभु जी को

दूसरे दिन इस बात का पता चला तो वे बड़े दुखी हुए । उन्होंने कहा : "तुम लोग कहां थे ? तुम्हें चाहिए है कि ऐसे लोगों को कोई मारने न पाये, क्योंकि एक तो यह होगा कि मारता दूसरा आदमी है, नाम तुम्हारा बदनाम होगा । **दूसरे मेरे कारण किसी को मार पड़े, यह मामला जरा ठीक नहीं है ।**" यह वाक्य कहते समय वे इतने दुखी, करुण एवं आर्द्र हो उठे थे कि मेरी आंसुएं बह निकलीं । इस समय भी निकल रही हैं । आंसुओं के सिवा है ही क्या अपने पास । कभी-कभी तो वे भी सूख जाती हैं । मै खुश हूं कि आज वे गीली हैं ।

०००

जन्म-दिवस : एक अफवाह

१९६९ की ९ दिसम्बर से १२ दिसम्बर : जूनागढ़ में भगवान श्री के सान्निध्य में साधना-शिविर । ११ दिसम्बर को भगवान श्री का जन्म-दिन सबेरे ५ बजे से ही बहुतेरे प्रेमी भगवान श्री को शुभकामनायें देने व प्रणाम करने 'मनोरंजन सर्किट हाउस' जाने लगते हैं । बहुत से मित्र विभिन्न प्रकार की भेटें भी लेकर जा रहे हैं । दिन में भी यह क्रम जारी है । मैं नहीं जाता हूं । बधाई व शुभकामना देना-उन्हें-मेरी समझ में ही न आता कि ये सब क्या है । और अगर बधाई दूं भी तो कैसे !

अन्ततः संध्या ४।। बजे भगवान श्री के पास जाना हुआ ।

भगवान श्री ने कहा : 'कहो शिव ?'

शिव के मुंह से सहज ही निकल गया : 'जी, लोग कहते हैं आज आप का जन्म-दिन है ?'

भगवान श्री मुसकाते हैं और कहते हैं : 'देखो न, लोग कैसी अफवाहें उड़ाते हैं ।

यह सुन लक्ष्मी, जया व शिव खूब हंसते हैं और भगवान श्री की बात का मजा लेते हैं ।'

०००

शायद आप भी हंस पड़ें

एक संस्मरण सुनाऊं जिसे सुनकर शायद आप भी हंस पड़ें। इलाहाबाद प्लेट फार्म की बात है, आचार्य श्री के लिए मैंने चादर बिछा दिया एक बेंच पर, उसी पर वे बैठे हैं। ट्रेन कैसी है, यह पता लगाने मैं 'इन्क्वायरी आफिस' चला गया। लौटकर आया तो देखा कि एक सज्जन आचार्य श्री के सामने खड़े हैं और बातें कर रहे हैं। उनकी बातें सुनकर मुझे समझते देर न लगी कि वे किसी प्रेस के कर्मचारी हैं। वे कह रहे थे : "जी आप यहीं से छपवाएं, बहुत अच्छी छपेगी। आप पत्र जरूर लिखिएगा अगर यहां से छपवाना हो तो। मैं अपने प्रेस का मैनेजर से लेकर चपरासी तक सब कुछ मैं ही हूं। प्रकाशन के लिए मैटर जुटाना, प्रूफ रीडिंग करना, सारा हिसाब-किताब रखना, बैंक,चैक, कम्पोजिंग भी करना, सारा कुछ मेरे ही ऊपर है। यही समझें कि दुनिया भर का काम मैं ही देखता हूं।" जब उन मित्र ने यह वाक्य कहा तो आचार्य श्री ने धीमे से मेरी ओर देखा। उनकी आंखों की मुसकान देख मैं भी मुसकरा पड़ा। ०००

यह कम विचित्र नहीं

कई बार मैं प्रभु जी के साथ था जब उनके भाषणों के दौरान बाधा पहुंचाई गई। पटना में द्वितीय विश्व हिन्दू धर्म सम्मेलन के अवसर पर— शंकराचार्य जी ने बीच में ही हंगामा जैसा मचा दिया। मगर जनता "प्रभु जी" को सुनना चाहती थी अतः आचार्य जी ने फिर ठीक वहीं से बोलना शुरू कर दिया जहां बोलते हुए बंद किए थे।

ऐसा ही मैंने लुधियाना में, जूनागढ़ में, जबलपुर में भी एक बार गांधी पर बोलते समय देखा व अमृतसर एवं बड़ौदा आदि स्थानों के बावत सुना है।

मेरे लिए यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि भाषण पूरी गति एवं गंभीरता में चल रहा हो और एकदम अचानक किसी हल्ले-गुल्ले या बाधा के कारण पूरी चेतना १०-१५ मिनट को दूसरी ओर 'डाइवर्ट' हो जाय और फिर शांति कायम होने पर भाषण ठीक वहीं से शुरू हो, जहां बन्द हुआ था। हम तो अक्सर बात करते-करते बिना किसी बाधा के भी भूल जाते हैं कि क्या बात कर रहे थे। कई बार मित्रों से कहना पड़ता है : "फिर कभी बात करूंगा, अभी तो भूल गया कि क्या कहने जा रहा था।" ०००

चमत्कार

मैं किसी ऐसे चमत्कार की चर्चा नहीं करने जा रहा हूं जैसा कि कोई बाजारू साधू-संन्यासी दिखाता है। वैसे चमत्कारों को न केवल मैं आदर नहीं दे पाता वरन् उनका विरोधी भी हूं। मैं यहां ऐसे चमत्कार की चर्चा करने जा रहा हूं जो चौबीस घण्टे हमारे साथ जीता, जागता, चलता-फिरता, उठता-बैठता है, हंसता-बोलता है। और जो कुछ दिखाता नहीं, जिसे देखना पड़ता है।

मैंने देखा है प्रभु जी के साक्ष्य में लोगों को संन्यास ग्रहण करते। प्रभु जी के पास कोई रिकार्ड नहीं रहता कि क्या-क्या नाम दिया जा चुका है। रिकार्ड जिन चिन्मय जी के पास रहता है वे तो कहीं अलग दो-चार मील दूर ठहरे होते हैं। हां, तो वह चमत्कार जो मुझे दिखता है वह है प्रभु जी द्वारा संन्यासियों को नाम दिया जाना। इतने लोग तेजी से संन्यास ले रहे हैं। अभी माउण्ट आबू पर ही सात दिनों में १६५ मित्रों ने संन्यास लिया। तो मुझे आश्चर्य इस बात का है कि प्रभु जी एक क्षण को रुक से जाते हैं और बस कागज पर नाम लिख देते हैं और कभी ऐसा नहीं होता कि नाम भूल से 'रिपीट' हो जाय। जबकि रिपीट होने की संभावना बहुत ज्यादा है। क्योंकि मोटे रूप में मुझे ४-५ शब्द नजर आते हैं उन्हीं शब्दों में थोड़े हेर-फेर के साथ सैकड़ों नाम दिये जा चुके हैं। जैसे स्वामी धर्म सरस्वती, मा धर्म सरस्वती, मा धर्म भारती, मा धर्म रक्षिता, मा धर्म ज्योति, स्वामी आनंद विजय, स्वामी आनंद घन, स्वामी आनंद वीतराग, स्वामी आनंद सागर, स्वामी प्रेम विजय, स्वामी प्रेम मूर्ति, मा प्रेम समाधि, मा योग समाधि, मा योग सम्बोधि, मा योग मीरा, मा योग करुणा, मा योग साधना, मा योग सिद्धि इत्यादि। अर्थात् नामों में आपस में इतना थोड़ा फर्क है कि भूल हो जाने की शत प्रतिशत संभावना है। स्वाभाविक तो यही लगता है कि भूल हो, पर होती नहीं। ऊपर कुछ नाम अपनी स्मृति से उदाहरण के लिए मैंने सामने रक्खे। इसी तरह के सैकड़ों नाम, सभी एक-दूसरे से मिलते-जुलते। ये नाम एक दिन में भी नहीं दिए गए कि मस्तिष्क में कोई 'सिस्टम' बना ले कोई और नाम देता चला जाय। कोई जनवरी में संन्यास ले रहा है पूना में तो कोई मार्च में बम्बई में तो कोई सितंबर में आबू में तो कोई जून में गाडरवारा में। ··· मेरे लिए सचमुच यह आश्चर्य है कि ऐसा कभी नहीं होता कि नाम रिपीट हो जाय। संन्यास लेने

वाला प्रेमी प्रभु जी के सामने आता है, प्रभु जी एक क्षण को खुली आंखों से ही ऊपर की ओर अथवा किसी भी ओर देखते हैं। बहरहाल क्षण भर को रुक गए से लगते हैं और बस कागज पर नाम लिख देते हैं।

अगेह भारती ने जब पूना में संन्यास लिया और दूसरे दिन जब चिन्मय जी से भेंट हुई तो उन्होंने कहा : यह नाम तो किसी को दिया जा चुका है, आपके लिए भगवान श्री से दूसरा नाम लेना पड़ेगा। मैंने कहा भई यह नाम मुझे बड़ा प्यारा लगा है। क्योंकि भौतिक जगत में भी अपने पास कोई घर नहीं है और यह नाम गहरे अर्थों में सदा स्मरण दिलाता रहेगा कि मुझे "मेरे घर" का पता नहीं है। तो चिन्मय जी ने कहा: ठीक है इसी आशय का दूसरा शब्द खोज लिया जायगा। मैंने कहा : ठीक है। दूसरे दिन जब प्रभु जी से मैं मिला और बताया तो उन्होंने कहा : वह 'मा अगेह भारती' है, तुम 'स्वामी अगेह भारती'। (बाद में मुझे पता चला मा अगेह भारती बम्बई की हैं और काफी पहले संन्यास ग्रहण कर चुकी थीं)

०००

सत्य को क्या फिक्र !

एक दफे की बात है, 'युक्रांद' के १२ वें अंक में "नानक और साम्प्रदायिकता" शीर्षक से मेरे द्वारा लिखे गये संस्मरण में पृष्ठ १० पर, १०वीं ही पंक्ति में "हाथ हिलाते हैं" की जगह "हाथ मिलाते हैं" छप गया था। प्रसंग कुछ ऐसा था कि मैं साइकिल पर जा रहा था जहां भाषण था। प्रभु जी की कार पीछे से आ गई। वे बगल से गुजरे तो मुसकाते हुए हाथ हिलाते हैं। तो जब पत्रिका देखने को मुझे मिली और मैंने यह त्रुटि देखी तो मुझे बड़ा दुख हुआ। कुछ त्रुटियां ऐसी भयंकर होती हैं कि उन्हें अक्षम्य ही समझा जाना चाहिए। ऐसी ही थी यह त्रुटि। अर्थ का अनर्थ देने वाली।

मैंने 'प्रभु जी' से एक दिन कहा कि यह शब्द तो बहुत गलत छप गया है। बड़ा गलत अर्थ देता है। कोई समझेगा आप राजनीतिज्ञ हैं, चालाक हैं और लोगों को बेवकूफ बनाते हैं जबकि यह बात सच ही नहीं है। अतः अगले अंक में एक कोष्ठक में "भूल सुधार' छपवाने जा रहा हूं। प्रभु जी बोले : "छोटी-छोटी भूलें हैं,इनके लिए मत फिक्र किया करो।" मैंने कहा : "आचार्य जी यह छोटी-मोटी नहीं, एकदम गलत अर्थ देने वाली भारी भूल है।" प्रभु जी ने और भी अधिक स्नेहिल होते हुए कहा : "ऐसी छोटी-मोटी गलतियां हो जाया करती हैं, इनके लिए फिक्र लेने की बात नहीं।"

"तो 'भूल-सुधार' नहीं छपवाऊं फिर ?"

"नहीं, उसकी क्या जरूरत है।"

०

मैंने अपने मन में सोचा कि वह बात गलत अर्थ देती है। वह गलत है भी। मुझे इसकी फिक्र है कि रजनीश जी गलत नहीं हैं तो गलत क्यों समझे जायं परन्तु उनको खुद को कोई फिक्र नहीं है। पहली बार मुझे पता चला कि सत्य अपने पर सन्देह किये जाने से कभी नहीं डरता। उसे इसकी फिक्र ही नहीं होती कि कौन उसे क्या समझेगा। जिसे यह फिक्र हो, वह और कुछ भी हो सत्य नहीं हो सकता, यह मुझे अब पता चला।

०००

जो भी न करें, थोड़ा है

बात २८ मार्च १९६९ की है। भगवान श्री 'बाम्बे-हावड़ा मेल' से 'द्वितीय विश्व हिन्दू धर्म सम्मेलन' में भाग लेने पटना जा रहे थे। साथ में क्रांति, चौकसे व मैं भी तैयार था। स्टेशन पहुंचने में मुझे कुछ देर हो गयी। जब मैं पत्नी, भाई व बच्चों के साथ स्टेशन पहुंचा तो गाड़ी आ चुकी थी। भगवान श्री भी आ चुके थे और अपने वातानुकूल डिब्बे के सामने रमा, अरविन्द, नारायण, भीकम, आलोक, अजित व अन्य बहुतेरे प्रेमियों से घिरे खड़े थे। वो कई बार पूछ चुके थे : "शिव नहीं आया अभी, क्या बात है !"

जब मैं प्लेटफार्म पर पहुंचा तो भगवान श्री का डिब्बा पहले मिला। मित्रों ने बताया कि तुम्हारा रिज़र्वेशन प्रथम श्रेणी में हो गया है जो कि यहां से ५–६ डिब्बों के बाद है। मैं अपने डिब्बे की ओर चला गया। भाई, पत्नी व बच्चे भगवान श्री के पास ही खड़े रह गये। अपने डिब्बे में सामान आदि जमा लेने के बाद मैं बाहर निकलकर प्लेटफार्म पर खड़ा हो गया। भगवान श्री का डिब्बा दूर था, गाड़ी कभी भी छूट सकती थी, अतः चाहकर भी वहां मैं न जा सकता था। पर वहां से मैं भगवान श्री को देख रहा था। वे हंस-हंस कर प्रेमियों में बातें कर रहे थे। मुझे यह बड़ा भला लग रहा था कि भगवान श्री के प्रेम में मुग्ध रजवन्त को अपने भाई का, शांता को अपने पति का व बच्चों को अपने पिता का ख्याल तक न रहा कि वह पटना जा रहा है और वे उसे भी विदा देने आये हैं। एक बार रजवन्त क्षण भर को मेरे पास आया पर क्षण भर में ही मैंने उसे वहीं भेज दिया। वह चाहता भी शायद वही था। और मुझे भी ज्यादा आनन्द इस बात में ही आ रहा था कि सब

मंत्र मुग्ध-से भगवान श्री के पास ही खड़े हैं। और गाड़ी भी छूट जाती, वे खड़े ही रह जाते। पर एक बड़ी आश्चर्यजनक घटना घट गयी। भगवान श्री, जो हमेशा कहीं जाते तो गाड़ी छूटने पर दरवाजे पर खड़े होकर प्रेमियों की ओर देखते, मुसकाते रहते और २०–३०–४० गज के बाद सिर हिलाकर मुसकाते हुए 'विदा' का इशारा करते और दरवाजा बंद करके भीतर हो जाते, वो आज गाड़ी छूटने के कुछ क्षण पहले ही सब को प्रणाम कर के विदा कर दिये और स्वयं डिब्बे के भीतर अपने कक्ष में चले गए। स्वभावतः न केवल भाई, पत्नी व बच्चे बल्कि सभी प्रेमी शिव के डिब्बे के पास आ गए और वह एक-एक से मिल ही पाया था कि गाड़ी छूट गयी। शिव को लगा कि देखो भगवान की लीला! सच, वह जो भी न करें, वही थोड़ा है!

०००

कलाविद् आचार्य श्री

१९७० के किसी महीने की बात है, हमारे नगर के युवक चित्रकार श्री कामता सागर अपनी पांच पेंटिंग्ज़ आचार्य श्री को दिखाने ले आये हैं। पराग के सम्पादकीय विभाग के श्री किशोरी रमण टन्डन व मैं पहले से ही आचार्य श्री के पास बैठे थे। सागर जी ने पंच तत्व की पेंटिंग्ज तैयार की है, क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर। आचार्य श्री ने पेंटिंग्ज़ की प्रशंसा की। टण्डन जी ने काफी प्रशंसा की और कहा कि इस विषय पर शायद यह पहला प्रयोग है चित्रकला के जगत में।

क्षण भर और चित्रों को देखने के बाद आचार्य श्री ने कामता सागर से कहा कि तुम्हारी तीन पेंटिंग्ज़ क्षिति, जल, गगन तो बहुत उम्दा हैं लेकिन अग्नि व वायु के बारे में थोड़ा तुम्हें सोचना पड़ेगा। यह अग्नि को तुमने इतना 'डल' (मन्द) क्यों कर दिया है? (सागर जी ने अग्नि को हल्के पीले व नारंगी जैसे रंग से पेण्ट की थी)। सागर जी ने लॉजिक प्रस्तुत किया: "आचार्य जी, असल में मैं अग्नि में भी विध्वंसात्मक रूप नहीं देखता हूं। मैं उसमें भी प्रेम व ममता देखता हूं।" आचार्य जी ने कहा: "तुम्हारे देखने से अग्नि थोड़े बदलेगी। तुम अग्नि को वैसी नहीं देखना चाहते जैसी वह है। तुम उसे वैसी देखते हो जैसी तुम उसे देखना चाहते हो। अग्नि में वह जो 'अग्नि नेस' है वही तो उसका सौंदर्य है। वह जो तेज है वह ज्वाला। अग्नि का सौंदर्य उसके अग्नि होने में ही है, उसकी प्रचण्डता में ही है। फिर, अग्नि बहुत बड़ी शक्ति है। उसके अभाव में किसी का जीना नहीं हो सकता। यह सूर्य क्षण भर को ठण्डा हो जाय तो कौन जी सकेगा? हमारे भीतर भी अग्नि

ही है जो हमें जिन्दा रखती है। ज्यों-ज्यों हमारी अग्नि मन्द होती जाती है, त्यों-त्यों मौत के पास हम आते जाते हैं। अग्नि के बिना तो क्षण भर भी जीना असम्भव है पर है वह शक्ति। इसलिए अग्नि का जो तेज है, उसकी प्रचण्डता, उसकी वह भयंकरता वही तो उसका सौंदर्य है, वही तो उसकी गरिमा है। उसके बिना वह अग्नि ही नहीं है। तुम इन पांचों पेंटिंग्ज को साथ रखो तभी कोई पहचानेगा कि यह अग्नि है। परन्तु यदि उस अकेले को पृथक कहीं रखो तो देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि यह अग्नि है। तो अग्नि पर तुम सोचना-विचारना।"

और वायु को क्यों रंग दिया है ? वायु का कोई रंग होता है ?

सागर जी ने कहा : इसीलिए तो बहुत हल्के नीले से रंगा है।

आचार्य श्री ने कहा : "लेकिन वायु का तो कोई रंग नहीं होता।" क्षण भर रुक कर आचार्य श्री ने कहा : "असल में वायु के साथ सीधे कुछ नहीं किया जा सकता। उसके लिए तो कुछ ऐसा करना पड़ेगा, इनडाइरेक्ट, जिससे यह मालूम पड़े कि हवा बह रही है। जैसे कि कोई वृक्ष बनाओ जिसकी टहनियां झुकी जा रही हों। बड़ी घास भी बना सकते हो। वे झुकी जा रही हों, झूमी पड़ रही हों। उन्हें देखकर हवा के बहने का बोध होना चाहिए। मेरी दृष्टि में तो हवा को सीधे 'पेण्ट' नहीं किया जा सकता। बाकी के तीनों चित्र उम्दा हैं।

सागर जी ने कहा— मैं अग्नि व वायु को फिर से पेण्ट करूंगा।

आचार्य जी ने कहा : फिर से कर ही डालना पड़ेगा, तभी ठीक रहेगा।

सच, मैं सोच भी नहीं सकता था कि चित्रों पर भी इतनी गजब की समीक्षा आचार्य श्री दे सकेंगे। पर अब मैं उनके द्वारा सब कुछ संभव देखता हूं। कुछ भी उनके लिए असंभव नहीं है।

०००

बाल-सुलभ सरलता

जून '७० के अंतिम सप्ताह की बात है। अश्विनी व भीकम व दो और मित्र आचार्य श्री के पास पहुंचते हैं आचार्य श्री के चित्र लेने। आचार्य श्री से उन्होंने समय लिया था अतः आचार्य श्री मुसकराए। वे मित्र भी मुसकराए। लगा कि मुसकराकर आचार्य जी कह रहे हों कि तुम आ ही गए आखिर चित्र लेने !

उन मित्रों ने आचार्य श्री को बैठने को कहा तो वे बैठ गए। खड़े होने को कहा, वे खड़े हो गए। उन्होंने हस्ताक्षर करते हुए चित्र लेना चाहा, वे हस्ताक्षर करने लगे। बागवानी करते हुए चित्र लेना चाहा तो वे बगीचे के पौधों में से सूखे व पीले पत्ते चुनने लगे। सोते हुए चित्र लेने को कहा तो आचार्य जी खूब हंसे···और जाकर पलंग पर लेट गए। उन्होंने मोमबत्ती जलाया और आचार्य जी को उसके प्रकाश में पढ़ने को कहा तो वे पढ़ने लगे। यानी आचार्य श्री को एक घण्टे जैसे नचाया प्रेमियों ने वैसे ही वे नाचे। सच यह है कि उनकी अत्यन्त सरलता के कारण भी बहुतेरे लोग उन्हें समझने में भूल कर जाते हैं।

ं००

उनकी दुस्साहसिक साधना

एक बार, लगभग २॥ वर्ष हुए, अगेह भारती ने पूछा : आचार्य जी, आपने कभी कोई साधना आदि की है या नहीं ? एक दिन मैं भइया ··· से (परिवार के एक सदस्य से) पूछता था तो उन्होंने कहा कि मेरी समझ में तो उन्होंने (आपने) जीवन को समग्रता से तीव्रता के साथ जिया है, बस, इस जीने में ही अनायास उपलब्धि हुई है।

आचार्य जी ने कहा : निकट के लोग अकसर अंधे हो जाते हैं। ये बगीचे में फूल खिले हैं न, इन्हें घर का आदमी शायद ही कभी देखता हो। दिन भर में हजार बार उधर से ही, बगीचे से ही आयेगा-जायेगा, पर फूल उसे नहीं दिखेंगे। ये बगीचे के फूल उसे स्वीकृत हो गए हैं। पता है कि बगीचे में फूल हैं। इसलिए उसे फूल नहीं दिखते। और सड़क पर से गुजरते हुए आदमी की अवश्य ही इन फूलों पर निगाह पड़ जाती है कि ओ हो, कितने सुन्दर फूल हैं !

तो निकट के लोग अकसर अंधे हो जाते हैं। मैं जब गाडरवारा में रहता था, बचपन में, तो तुम जानते हो गाडरवारा छोटा कस्बा है। वहां पहली बार सिनेमा आया था। तो उसके शो बड़े अनियमित होते थे। नया-नया सिनेमा था। कभी शाम को शुरू हो ६ बजे और खतम हो ११ बजे। बीच-बीच में मशीन गड़बड़ हो जाय। कभी मशीन गड़बड़ हो जाने से शुरू ही ८ बजे हो पाये तो १–२ बजे रात समाप्त हो। तो मैं घर से यह कहकर निकल जाया करता सांझ कि पिक्चर जा रहा हूं। मंदिर जा रहा हूं कहता तो शायद कभी कोई देखने भी आता कि मंदिर जाने को कहता है, देखूं जाता कहां है ! लेकिन जब मैंने यही कह दिया कि पिक्चर जाता हूं यानी रद्दी

जगह ही जाता हूं तो ढूंढ़ने का सवाल ही किसी को नहीं उठता था। परिवार के लोग अपना समय पर सो जाते। मेरे बारे में यही जानते कि पिक्चर देखने गया है, जब पिक्चर समाप्त होगा तो आ जायेगा। लेकिन मैं सांझ निकल जाता एक छोटी नदी है गाडरवारा में, उसी नदी के तट पर। और कितनी रातें उस नदी के किनारे रेत में नग्न लेटे रहकर बितायी हैं उस सबका कोई हिसाब नहीं है। कितनी अंधकार पूर्ण रातों में नदी के किनारे किसी पुरानी कब्र को खोदकर उसके खड्ड में पड़ा रह गया हूं उस सबका किसी को कुछ पता नहीं है। इसलिए अगर मेरे परिवार के लोगों से कोई पूछे जाकर तो जरूर वे कहेंगे कि बचपन में वह पिक्चर देखने बहुत जाता था पर यह कहना कठिन है कि कभी मैंने कोई साधना की है। समझे ?!!"

०००

रजनीश अर्थात् अनन्त चुनौती

रजनीश जी के निकट आने वालों को निरंतर यह अनुभव होता रहा है कि वे कहीं ठहरने नहीं देते। किसी भी कोने-कोतर में छुपे आप, वे पहुंच जाते हैं और प्रेमपूर्ण निर्ममता से धक्का दे देते हैं। वे हजारों सुषुप्त आत्माओं को एक साथ झकझोर देते हैं। वे एक घण्टे के भाषण में एक-एक श्रोता को व्यक्तिगत रूप से हिला आते हैं, धक्के दे आते हैं। वे हमें मृत्यु से अनन्त जीवन की ओर प्रतिक्षण उत्सुक करते रहते हैं। 'उनके' समक्ष 'मन' के जीने का उपाय ही नहीं रह जाता।

अप्रेल '७१ की बात है, आबू शिविर की। भगवान श्री का प्रवचन 'ईशावास्य' पर चल रहा है : "जगत में दो ही प्रकार के लोग हैं : आत्महन्ता व आत्मसृष्टा। और आत्मसृष्टा कम होते हैं लाखों में एकाध, आत्महन्ता ही अधिक होते हैं। लेकिन हमें इसका कोई बोध नहीं है।" प्रभु जी ने आगे समझाया : "जो भी हम जीते व करते हैं वह अगर आत्म-विरोधी हो, आत्मा से दूर ले जाने वाला हो, चेतना को सुलाने वाला हो तो हम आत्महन्ता हैं और अगर आत्मा में प्रतिष्ठित करने वाला हो तो आत्म-सृष्टा हैं। लेकिन मुश्किल और भी बड़ी हो जाती है जब आत्महन्ता को भी आत्मसृष्टा होने का भ्रम पैदा हो जाता है। और हम सबको ऐसा भ्रम है।"

प्रभु जी ने जब उपर्युक्त अंश कहा तो तत्क्षण मैंने मन ही मन कहा कि हे प्रभो ! मैं तो स्पष्ट स्वीकार करता हूं कि मैं आत्महन्ता हूं। तभी

एकाध वाक्य और जाने क्या-क्या बोल के प्रभु जी और आगे बढ़ते हैं और मेरे जैसे चतुर व चालाक मन की खबर लेते हैं। वे कहते हैं : "लेकिन हम इतने मुर्दा हैं कि हम कहेंगे कि ठीक है मैं स्वीकारता हूं कि मैं आत्महन्ता हूं। हम इतने मर गये हैं कि थोड़ा भी चोट नहीं लगती। हम इतने कायर हैं कि सन्तुष्ट हो जाते हैं कि चलो भाई मैं मान लेता हूं कि आत्महन्ता हूं। हम कब तक मरे रहेंगे ? अनंत जन्म ऐसे ही बीत गए हैं। आदि···आदि····।" अब मेरे मन को भागने को कहीं राह नहीं मिली अतः क्षण भर को ठहरा है और फिर सोचने लगा है कि हे भगवन् तू कितना पीछा करता है। तू कहीं भी ठहरने नहीं देता। तेरी चुनौती का कोई अन्त नहीं।

०००

मूसलाधार बारिश : धुआंधार ध्यान

लुधियाना की बात है। प्रातः भगवान श्री एक ग्राउण्ड पर (नाम याद नहीं) सक्रिय ध्यान करवाया करते थे। संध्या प्रवचन ····। उस रोज रात भर पानी का बरसना बन्द न हुआ। सुबह हम जगे तब भी मूसलाधार बारिश। चारों ओर पानी ही पानी भगवान श्री ने कपिल भाई से कहा : "जाकर पता करो, कोई आए हैं या नहीं ? और आये हैं तो पूछो ध्यान करने की तैयारी है या नहीं ?"

कपिल जी व मैं जब मैदान के लिए निकले तो सड़क पर पानी ही पानी। ऐसा लगता था कि पानी में कार तैर रही है। मैदान पर पहुंचे तो देखा कोई २००–२५० साधक-साधिका पहुंच चुके हैं जिनमें लगभग ५०–६० पूरी तरह भीग चुके हैं और वे मैदान में तैर रहे पानी पर कुलांचे भर रहे हैं। शेष भी आधे गीले हो चुके हैं। तथा और भी साधक अभी आते जा रहे हैं। कारों, स्कूटरों व साइकिलों की कतारें बढ़ती जा रही हैं। जब प्रेमी साधकों से भगवान श्री का सन्देश कहा गया और पूछा गया कि क्या इरादे हैं तो उन्होंने परम उत्साह से कहा : "भगवान श्री को जल्दी बुलाइये, हम ध्यान में डूबने को आतुर हैं।" हम घर लौटे और भगवान श्री को साधकों के उत्साह भरे वचन सुनाया तो वे हंसकर 'बहुत ठीक' कहते हुए तत्क्षण उठ खड़े हुए। जैसे कि वे साधकों से यही आशा करते थे। कारें चल पड़ीं। कुछ ही मिनटों में भगवान श्री मैदान पर जा पहुंचे। प्रेमियों ने 'आचार्य रजनीश की जय' के सिंहनाद से आकाश गुंजा दिया। भगवान श्री कार से उतरे, पानी में पैर रखते हुए मंच की ओर चले। एक मित्र छाता लगाए हैं उनके ऊपर। मगर बारिश इतनी तेज है कि भगवान श्री पर बौछारें बराबर पड़ रही हैं। वे मंच

पर पहुंच गए हैं। मंच भी करीब-करीब गीला हो गया है। भगवान श्री,जहां तक स्मरण कर पाता हूं, खड़े-खड़े ही सुझाव देना शुरू कर दिये। पानी की रफ्तार और तेज हो गई है। भगवान श्री ने कहा : "यह परम आनंद की बात है कि आप इस बरसते पानी में ध्यान करने को राजी हुए हैं। बरसते पानी में खड़े होकर ध्यान करना और भी गहराइयों में ले जाता है। अतः आज तो पूरी ही ताकत लगा देनी है। ···हां, शुरू करें···गहरी श्वास···और गहरी····और गहरी ····।"

उस दिन का भगवान श्री का बौछारें खा-खाकर ४० मिनट ध्यान के प्रयोग करवाना और साधकों द्वारा पागल हो-होकर ध्यान में शक्ति लगाना, उस पानी से भरे मैदान में कूदना, छलांगे लगाना, गिरना ···· वह दृश्य, वह क्षण, वह पवित्र स्थान सब अविस्मरणीय बन कर रह गया है। उस दिन का मज़ा तो वही जाने, जो वहां मौजूद था। आज वहां का संस्मरण लिखते समय मन ललचा गया है कि क्या फिर कभी वैसी मूसलाधार बारिश में ध्यान करने का सुयोग घटित होगा !!

०००

रजनीश यानी प्रेम

१३ दिसंबर १९६९···जूनागढ़ की बात है। शिविर समाप्त हो गया है। हम भगवान श्री को भेजने हवाई अड्डे पर आये हैं। वे बम्बई जायंगे और वहां से गाडरवारा, तत्पश्चात् जबलपुर। मैं शाम की गाड़ी से निकलूंगा, सीधे गाडरवारा के लिए। जहाज लेट होने से हमें हवाई अड्डे पर कुछ मिनटों का सानिध्य भगवान श्री का और मिल गया है।

अब जहाज आया है। भगवान श्री, लक्ष्मी, हिम्मत भाई, वसन जी जहाज में बैठने के लिए चलने को हुए हैं। जया (अब-मा योग मीरा) भगवान श्री के गले से लग गई है और उसकी आंखें छलछला आई हैं। वह कहती हैं: "मुझसे कोई गलती हो गई हो तो क्षमा कर देना।" मेरे मन में लगा कि यदि कोई ऐसा यंत्र होता जिसके द्वारा उसके कान में मैं बोल सकता तो कहता : "तुझसे बहुत गलतियां हुई हैं और एक भी क्षमा नहीं की जा सकतीं।" पर ऐसा कोई यंत्र मेरे पास नहीं होता। भगवान श्री बेचारे कहते हैं : "तुझसे

कैसे गलती हो सकती है !!" सब लोग भगवान श्री के पैर छूते हैं । अब भगवान श्री जहाज की ओर बढ़ गये हैं । हम खड़े एकटक निहार रहे हैं । भगवान श्री जहाज में बैठने के लिए 'लैडर' पर चढ़ रहे हैं, वही मनोहारी चाल !! लक्ष्मी, (अब-मा योग लक्ष्मी), हिम्मत भाई, वसन जी आदि जहाज में सीधे घुस गये हैं । लेकिन भगवान श्री अंतिम सीढ़ी पर पहुंचकर पीछे मुड़े हैं । ओ हो ! वे तो हाथ हिला रहे हैं । हमारे भी हाथ उठ गये हैं और हिल गये हैं । मेरे आंसू बह निकले हैं । मन कहता है जो हमारी तरह माया, मोह में हैं वे तो वीतराग जैसे सीधे जहाज में घुस गए, और जो महा-योगी है, वीतराग, सब से, सब कुछ से निर्लिप्त···वह पीछे मुड़कर हमारे प्रति प्रेम प्रगट कर रहा है । मुझे डॉ. हेमन्त (अब-स्वामी आनंद निर्वाण) का कथन अनायास स्मरण हो आया है कि 'रजनीश यानी प्रेम' ।

० ० ०

दो दिन बाद जब गाडरवारा में मैं प्रभु जी से मिला तो वे पूछते हैं– "कहो, आ गये, अच्छे रहे ?" मैंने कहा : "अब तो अच्छा ही अच्छा है, पर उस दिन जब आप चले आये जूनागढ़ से तो बड़ा अजीब सा लगता था । मन कहता था मैं भी भग आऊं । जया की तो अजीब हालत थी बेचारी की ।" भगवान श्री ने कहा : "हां, तुम लोग जहाज फ्लाई कर जाने के बाद बहुत देर तक खड़े रहे ।" छोटे बच्चे जैसा था मेरा सवाल : "आपको कैसे मालूम ?" वे और भी नन्हें शिशु जैसे बोल पड़े : "मैं तुम लोगों को देख रहा था ।"

आज भी वह बातें याद आने पर हृदय पिघल जाता है और आंसुयें निकल पड़ती हैं और समझ में नहीं आता कि उन्हें क्या कहूं, भगवान या मनुष्य ? मुझे लगता है वे भगवान कम मनुष्य ज्यादा हैं । फिर लगता है मनुष्य कम, भगवान ज्यादा हैं । फिर लगता है वे इन दोनों के पार हैं जिन्हें शब्दों द्वारा प्रगट किया जाना संभव नहीं है । धन्य हो रजनीश ! तुम भगवान हो या कुछ भी । मुझे तुम्हारा मनुष्य रूप प्यारा है । तुम शून्य हो तो ठीक है, पर मुझे तुम्हारे शरीर से भी लगाव है । अतः हम सबकी प्रार्थना है कि तुम इस शरीर में, इस जमीन पर बहुत दिनों रहो, बहुत-बहुत दिनों रहो ।

०००

०००

सोचती हूं, जाने कितने
अनन्त-अनन्त काल की साधना के बाद
'११ दिसम्बर' को मिला होगा यह सौभाग्य
कि उसकी कोख से
'भगवान' प्रगटे !

धन्य है ग्यारह दिसंबर तू !
कि तेरे प्रांगण में आज
असंख्य-असंख्य आत्माएं
होवेंगी नृत्य-मग्न
भूलकर अपना खयाल !!

—कुसुम, लुधियाना

०००

अगेह !
क्या तुम सोचते हो—जन्म-दिवस पर
वो ही लिखे हैं
जो कुछ छपने को भेजे हैं ?
··· ऊं हुं ···
वो एक बार लिखे होंगे
या हो सकता है दो-चार बार
काट-पीट किये हों,
मगर अनेक ऐसे हैं
जो हजार बार लिखना चाहे हैं—और लिखे भी हैं
मगर नहीं लिख पाये हैं, और
विवशता में रो पड़े हैं !!
क्या उनके अनलिखे-अनछपे भाव 'प्रभु' तक न पहुंच पाते होंगे ?
क्या उनकी विवशता के प्रेमपूर्ण आंसुओं की
आनंदपूर्ण कविता
'भगवान श्री' नहीं पढ़ लेते होंगे ??

—मा योग सम्बोधि,
जबलपुर

०००

रहस्यमय रजनीश को प्रणाम !

---स्वामी आनन्द मैत्रेय, पटना

(श्री मथुरा प्रसाद मिश्र, भूतपूर्व संसद सदस्य)

एक मित्र उस दिन, मिलने आए। अर्से से आचार्य रजनीश को प्रेम करते हैं। उनके प्रवचन से मुग्ध हुए हैं और उनके साहित्य में डूबे हैं। लेकिन, जब बातचीत शुरू हुई, तब उनका स्वर दुःख और क्षोभ से बोझिल था। कहने लगे : आचार्य जी यह क्या कर रहे हैं ? अब तक खुद जो कुछ कहते आए, उसके ही विपरीत चलने लगे हैं। कहां तो कहते थे कि धर्म का संगठन गलत है और कहां अब 'नव-संन्यास अन्तर्राष्ट्रीय' उठ खड़ा है ? बताते थे, संन्यास लाया नहीं जाता और अब उनके हाथों से लोग संन्यास ओढ़ रहे हैं। जो कभी तीर्थ और मंदिर और मूर्ति को व्यर्थ बताते थे, वही अब समस्त परम्परा को, टीका-तिलक तक को अर्थ और आदर देने में लगे हैं। आपके ही गले में भी माला और यह मूर्ति देखकर मैं हैरान हूं।

सुबह का समय था और जाड़े की मीठी धूप में हम बैठे थे। बगल में पपीते के पेड़ पर बैठा गौरेये का जोड़ा अपने प्रेमालाप में संलग्न था। मित्र जब चुप हुए, तब मैंने कहा : आप जो प्रश्न उठा रहे हैं, एक समय वे मेरे मन में भी इसी तीव्रता के साथ उठे थे। और विचित्र बात है कि इन्हीं प्रश्नों के साथ पिछले मई महीने में बम्बई जाकर मैं आचार्य श्री से मिला था। लेकिन, परिणाम में ये रंगीन कपड़े और कंठी-माला लेकर पटना वापस आया। और अब भी मैं इस सारे परिवर्तन पर कम विस्मित नहीं हूं।

मित्र को मैंने यह भी कहा कि जिस आचार्य रजनीश से अब मिलना हो रहा है, यदि उनसे १९६५ में मुलाकात हुई होती, जब पहली दफा उनके दर्शन किये थे, तब शायद उनके पास मैं दुबारा लौटकर नहीं जाता। लेकिन, अब तो भागने का कोई उपाय नहीं है। उस्तरे की धार-जैसी जो प्रतिभा परम्परा के गढ़ पर निर्मम प्रहार करती थी, वही अब शायद उसके ढूह से, मलवे से कुछ कीमती पत्थरों को चुन-बीन कर बचाने में लगी है। यद्यपि वह पूरा घूम गया है, तो भी पहिया तो वही है। और सच मानिए, इस रजनीश को देखकर मैं वैसा ही चकित हूं, जैसा उस रजनीश को देखकर हुआ था।

सच तो यह है कि जब मैं पहली बार आचार्य रजनीश से मिला था, तब वह मुझे बहुत साधारण नजर आए थे। और अब ? अब तो उनका सब कुछ असाधारण और अलौकिक दीखता है। यह नहीं कि १९६५ में वह साधारण थे और १९७१ में आकर असाधारण हो चले हैं। वस्तुतः उस समय उन्हें देखने की आंखें मेरे पास नहीं थीं।

बातचीत के इस बिन्दु पर पहुंचकर मुझे लगा कि मैं बहक रहा हूं। झट अपने को सम्हालते हुए कहा : यह मत समझिये कि अब मैं आंखों वाला हो गया हूं। अंधा तो आज भी उतना ही हूं। फरक इतना है कि अपने अंधेपन का अब थोड़ा अहसास होने लगा है। और इस अहसास का आरम्भ शायद उस दिन हुआ, जिस दिन वुडलैंड्स में इस परम अपात्र के गले में आचार्य श्री ने यह माला डाली थी। उस दिन मानसिक तल पर उन्होंने मुझे झकझोरा भी। और अचानक मुझे लगा कि न मैं अपने को समझ पा रहा हूं और न इस रहस्यमय व्यक्ति को ही। वह तो शायद अब कोई व्यक्ति भी न रहा, पूरा अ-व्यक्ति ही हो गया है।

आचार्य श्री ने बार-बार कहा है कि दूसरे का ज्ञान, दूसरे के विचार, चाहे वे शास्ता और शास्त्र के ही वचन क्यों न हों, आपके किसी काम के नहीं हैं। मौलिक और बिलकुल अपना ज्ञान ही आदमी को उसका गंतव्य देता है। इसलिए सदा उनका आग्रह रहा कि कोई उनकी बातों को न स्वीकार करे, न अस्वीकार करे, उन्हें मात्र सुने। लेकिन, मैं हूं कि पुराने उधार विचारों के साथ-साथ इस आचार्य के वचनों को भी पकड़ कर बैठ गया हूं। इस तरह बोझ ही बढ़ा है मेरा। शायद यही हाल और मित्रों का भी हो ! तभी तो आचार्य जी वहां से भी हमें हिलाने लगे हैं। हमारी जड़ता ही, नींद ही हमारी मूल समस्या है और उसे मानो तोड़ना ही इस शिक्षक का मूल धन्धा हो।

अपने को तार्किक और बुद्धिवादी समझने का भ्रम मुझे बहुत समय से रहा है। संन्यास लेने के कुछ दिन ही पहले मैंने एक लम्बा पत्र आचार्य श्री के पास लिखा था, जिसमें उनके नये विचारों के सम्बन्ध में प्रश्न ही प्रश्न थे। उत्तर में उन्होंने मुझसे पूछा था :

जीवन को बुद्धि से टटोल कर क्या पाया ?
अब समर्पण के भाव में भी डूब कर देखें।
और कितनी देर करेंगे ?
खुलें।
झुकें।
समर्पित हों।

तभी अचानक उनकी एक और वाणी मेरी स्मृति में कौंध गई, जो १९६५ में ही एकलिंग साधना शिविर के अवसर पर उन्होंने कही थी। मैं अपनी कुछ निजी समस्याओं को लेकर उनसे परामर्श कर रहा था। उसके दौरान उन्होंने कहा : तर्क का अपना स्थान है। लेकिन यह मत भूलिए कि जीवन अतर्क्य है।

फिर आचार्य रजनीश को ही तर्क के जरिए कैसे समझा जा सकता है ? वह तो अंतर्विरोधों और असंगतियों से भरे समस्त जीवन के साथ एक हो गए हैं। **जब लोग असंगत होने का आरोप उन पर लगाते हैं, तब वह इनकारने की बजाय हंसते हुए उसे ओढ़ ही लेते हैं।** कहते हैं कि जैसे विरोधी ईंटों से पहले मेहरावी दरवाजा बनता था, वैसे ही अपने आंतरिक विरोधों और असंगतियों पर ही तो समूचा जीवन खड़ा है। अपनी समग्रता में तो जीवन न सिर्फ संगतिपूर्ण है, बल्कि संगीतपूर्ण भी है वह। लेकिन, उसके अन्त-हीन विस्तार में सर्वत्र संगति ढूंढ़ने का प्रयास बहुत अविचारपूर्ण होगा।

जीवन कोई ठोस, ठहरा हुआ, जड़ीभूत या मृत तत्व नहीं है। आत्यंतिक रूप से वह जीवन्त और गत्यात्मक, विकासशील और प्रवाहमान है। वह एक नदी की तरह है; लेकिन अनादि और अनन्त भी है। फिर उसे कहीं से भी पकड़ना या बुद्धि से समझ पाना अथवा उसमें संगति ढूंढ़ना असम्भव प्रयास होगा। उसके साथ तो मात्र बहना हो सकता है, मात्र जीना हो सकता है। और शायद उस जीने में ही जीवन का अर्थ है, उसका सौन्दर्य है, उसकी महिमा है।

मनुष्य का दुर्भाग्य यही है कि वह इस अन्तहीन जीवन-प्रवाह से टूटकर विच्छिन्न हो गया है। और यही उसकी मूल पीड़ा और समस्या भी है। लेकिन, आचार्य रजनीश उन विरल लोगों में हैं, जो अदृश्य रूप से फिर उस विराट जीवन से जुड़ जाते हैं, एक हो जाते हैं। इसलिए अब रजनीश जी का व्यक्तित्व समग्र जीवन—जैसा ही हो गया है—अनादि और अनन्त और अगम्य। और, दूसरी ओर हम हैं कि अपनी तरह ही उनमें ठहराव ढूंढ़ते हैं और अपनी ही सुरक्षा के लिए उनसे संगतिपूर्ण होने की मांग करते हैं। इस प्रसंग में हम पुराने पैगम्बरों और अवतारों को भी अपनी गवाही में खड़ा करने से नहीं चूकते। इसके ही उत्तर में, मुझे याद है, आचार्य जी उस दिन कह रहे थे कि बुद्ध या ईसा का जीवन-वृत्त या उनकी वचनावली उतनी ही नहीं है, जितनी धर्मग्रंथों में उपलब्ध है। वह तो पूरे का एक अंश भर है जिसे उनके भयभीत अनुयायियों ने, असंगतियों को काट-छांट कर और शेष को संगति के चौखटेमें फिट कर आलेखित करना उचित समझा।

पिछले वर्षों में प्राचीनता और परम्परा, शास्त्र और कर्मकांड पर बहुत तीखे प्रहार आचार्य रजनीश ने किये हैं। उस प्रहार में बहुत बल और ओज भरा था। उन्होंने कहा कि सत्य की खोज में विश्वास और श्रद्धा बाधा है और संदेह और अस्वीकार सहारा है। संगठित धर्मों को धर्म के शत्रु बताकर उन्होंने स्वतंत्र खोज और व्यक्तिपरक साधना पर बहुत बल दिया। और उनका यह क्रांतिवादी स्वर विज्ञान और बुद्धिवाद, प्रगति और आधुनिकता से प्रभावित युवा पीढ़ी को बहुत भाया और वह जय-जयकार करने लगी। तभी आचार्य जी का स्वर बदला और नव संन्यास अन्तर्राष्ट्रीय का सूत्रपात हुआ। संदेह की जगह श्रद्धा और समर्पण को तर्जीह दी गई। और ध्यान के साथ कीर्तन और प्रभु-चिकित्सा का पुराना राग जुड़ गया। फल हुआ कि मेरे जैसे अनेक बुद्धिवादी भौंचक रह गए। और स्वभावतः ही हम पूछने लगे कि क्या यह वही रजनीश हैं, जिन्हें हम कल तक सुनते-पढ़ते आये थे ? और वह यह सब क्या और क्यों कर रहे हैं ?

समाज के सांचों में ढले हम लोग सदा सांचे और श्रेणी की भाषा में ही सोचते हैं। यह हमारी लाचारी है। और सोच-विचार की भी यही सीमा है। हमारी अलग-अलग किस्में हैं, अलग-अलग वर्ग, प्रकार और टाइप हैं। कोई हिन्दू है, तो कोई ईसाई, कोई लोकतंत्रवादी है, तो कोई कम्युनिस्ट। और हमें इतनी ही स्वतंत्रता है कि उनके बीच चुनाव कर सकें, कैथोलिक से कम्युनिस्ट हो जाएं। लेकिन, इन सारे सांचों और श्रेणियों का अतिक्रमण कर, उनसे निकलकर कोई उनके बिलकुल बाहर खड़ा हो जाए, समाज न इसकी इजाजत देता है, न इसको सोच ही सकता है। हमारे यहां तो क्रांति और विद्रोह के भी ढांचे हैं, तंत्र हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के जीवन-व्यापार के सम्बन्ध में हम बड़ी आसानी से अनुमान किया करते हैं। वह अभी क्या है, क्या करता है, यह देखकर हम बता सकते हैं कि भविष्य में वह क्या होगा, क्या करेगा।

हमारा ज्ञात के जरिये अज्ञात को जानने का भ्रम सदियों पुराना है। यह एक अंध विश्वास ही बन गया है।

आचार्य रजनीश शायद इतिहास के उन उंगलियों पर गिने जाने वाले लोगों में है, जो समाज के सभी घेरों से, समाज से ही सर्वथा टूटकर अलग और बाहर खड़े हो गए हैं। उन्हें समाज का प्रचलित या अप्रचलित तंत्र या सम्प्रदाय, सिद्धांत या सांचा अपने में समाहित नहीं कर पाता। यही कारण है

कि वह उन्हें कभी समझ भी नहीं सका। **यह मानना भूल है कि ईसा को केवल उनके समकालीन समाज ने नहीं समझा था और इसलिए उसने उन्हें सूली पर लटका दिया। हकीकत यह है कि परवर्ती समाजों ने भी उन्हें कभी नहीं समझा और यह कि आज भी वह सलीब पर ही लटके हैं।** यह और बात है कि धरती के आधे से अधिक लोगों के गले में क्रॉस भी लटक रही है। कमोबेश यही हाल राम और कृष्ण, बुद्ध और महावीर, मुहम्मद और नानक का भी हुआ है। समाज एक बात में अत्यन्त कुशल है कि वह सदा क्रांति को यथास्थिति में और मसीहा को दकियानूस में बदल कर धर देता है। बगावत और विद्रोह पचाने की उसकी क्षमता अद्भुत है। और यही कारण है कि क्रान्तदृष्टाओं को 'युगे-युगे' आना पड़ा है और बार-बार उन्हें अपने ही पूर्ववर्ती सजातीयों से लड़ना भी पड़ा है।

संबोधि को उपलब्ध रजनीश इसी ऐतिहासिक तथ्य की एकबार फिर गवाही देने आये हैं। ऐसे विरल लोगों को ही उपनिषदों ने अनियम्य या सर्व-तंत्र-स्वतंत्र की संज्ञा दी है। ऐसे लोग कोई सिद्धान्त या कोई नियम या लीक थाम कर नहीं चलते। यह अलग बात है कि कालान्तर में उनका ऐसा उन्मुक्त, अलीक चलना भी समाज के द्वारा लीक की तरह ही पकड़ा और पूजा गया है। और यही वह कारगर, चालाक विधि है जिसके द्वारा उनकी हत्या भी की जाती रही है। लेकिन, ऐसे अलीक जीने और चलने वालों के जीवन व्यापार के सम्बन्ध में उनके जीते-जी, कोई भविष्यवाणी करना तो असम्भव ही है।

आचार्य रजनीश के सम्बन्ध में कोई भविष्यवाणी सम्भव नहीं है। उनकी लोकप्रियता सबसे पहले और सबसे अधिक गुजरात में बढ़ी, जो गांधी जी की जन्मभूमि है। और, कौन कह सकता था कि वहीं उनके वे प्रवचन होंगे, जो "अस्वीकृति में उठा हाथ" पुस्तक में संग्रहीत हैं? न सिर्फ सैकड़ों मित्र उनसे बिछुड़ गए बल्कि नारगोल में जो साधना के लिए छह सौ एकड़ जमीन मिलने वाली थी, उससे भी हाथ धोना पड़ा। फिर परम्परा पर पड़ने-वाली चोटों से यह प्रचार निकला कि रजनीश जी कम्यूनिस्ट हैं। एक पत्र ने तो उन्हें भारत का भावी माओत्से-तुंग ही करार दे दिया। और आश्चर्य की बात नहीं थी कि सैकड़ों कम्यूनिस्ट और समाजवादी उनके इर्दगिर्द मंडराने लगे। लेकिन, उन्हें क्या पता था कि **"समाजवाद से सावधान?" से सामना होगा उनका? जिस युग में समाजवाद राजप्रासादों से लेकर सचिवालयों तक**

में पूजा जाने लगा है, जिस युग का वह सर्वाधिक लोकप्रिय राजनीतिक फैशन बना है, उसमें कोई अभय को उपलब्ध प्राण ही उससे सावधान होने के लिए खतरे की घंटी बजा सकता था। और संतत्व की थोड़ी भी चाह रखने वाला संभोग से समाधि को जाने वाला मार्ग बताने का साहस नहीं जुटा सकता था।

रजनीश जी ने स्वयं अपने सम्बन्ध में कई बार दुहराया है कि मैं किसी योजना के मुताबिक नहीं जीता हूं। मैं तो प्रत्येक क्षण में जीता हूं, अभी और यहीं जीता हूं। कल क्या होगा, अगले क्षण में क्या होगा, न इसकी कोई चिन्ता है मेरे पास और न कोई परिकल्पना ही। यहां तक कि मैं जो कुछ भी बोलता हूं, उसका एक शब्द भी पहले से सोचा हुआ नहीं रहता। वस्तुतः तो मैं भी उसके बोले गए क्षण में उसे पहली बार ही सुनता हूं, ठीक वैसे ही जैसे उसे मेरे श्रोता सुनते हैं।

ऐसे लोग अपना भी खंडन करने को स्वतंत्र हैं। और शायद इसके लिए न उन्हें खेद होता है, न द्वन्द्व से ही गुजरना पड़ता है।

भगवान रजनीश के आविर्भाव के साथ एक और ऐतिहासिक कठिनाई शुरू होती है। अब तक, शायद, सत्य-द्रष्टाओं के व्यक्तित्व के भी टाइप रहे हों। इसकी ओर "महावीर मेरी दृष्टि में" में हलका-सा इशारा किया गया है। क्यों एक ही मसीहा सभी लोगों को स्वीकार नहीं होते? क्यों किसी को महावीर का कठोर तप रुचता है, तो किसी को बुद्ध की सहज साधना? साधारण जन तो किस्मों में बंटे ही हैं। और वे गुरु बनाने के लिए भी अनुकूल व्यक्तित्व ही ढूंढ़ते हैं। धर्मों के आपसी विरोध और संघर्ष का भी शायद यह एक प्रधान कारण रहा हो।

इस प्रसंग में आचार्य श्री ने यह भी बताया है कि मैंने अपने व्यक्तित्व के वैसे टाइप या चौखटे भी तोड़ कर नष्ट कर दिये हैं और जीवन के बिलकुल नग्न आकाश के नीचे, खुले आंगन में ही खड़ा हो गया हूं। परिणाम में वह अब सभी प्रकार की साधना की, जिन्हें किसी भी शास्ता या सम्प्रदाय ने प्रयोग के द्वारा चलाया हो, चर्चा करते हैं, जो आपस में एक दूसरे को काटते रहे हैं। ध्यान की ही अबतक कोई साठ-सत्तर विधियाँ वह बता चुके हैं और कहते हैं कि जो जिसके अनकूल पड़ेगी, वह उसे अपने लिए चुन लेगा। इसलिए वह

कभी गीता और उपनिषद पर बोलते हैं, तो कभी महावीर और बुद्ध के वचनों की व्याख्या करते हैं। कभी वह कुंडलिनी योग का उद्घाटन करते हैं, तो कभी ता-ते-किंग के सहज योग का विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं।

ऐसा लगता है कि भगवान रजनीश में कृष्ण और बुद्ध, लाओत्से और जरथ्रुस्त, क्राइस्ट और मुहम्मद सम्मिलित रूप से आविर्भूत हुए हैं। और भी अत्युक्ति नहीं होगी कि उनसे धर्म के इतिहस में एक बिलकुल ही अभिनव अध्याय का श्री गणेश हुआ है। जो नव संन्यास आन्दोलन उन्होंने चलाया है, उसमें मुसलमान को अपनी मस्जिद में जाने की वैसे ही इजाजत है, जैसे हिन्दू को मंदिर और ईसाई को चर्च में जाने की है। और, वे चाहें तो आपस में एक दूसरे से स्थान भी बदल सकते हैं। लेकिन, इस अर्थ में भगवान श्री विभिन्न मार्गों का समन्वय नहीं कर रहे हैं। वह तो मार्गों की वैधता और स्वतंत्रता को स्वीकारते हुए मात्र उनके लक्ष्य की एकता पर बल देते हैं। शायद इससे समाज को सम्प्रदायों में बँटने का पुरातन अभिशाप दूर हो सके।

पुराने और नये के झगड़े को भी भगवान श्री ने एक नये तल पर लाकर निबटा-सा दिया है। वह कहते हैं कि जो अभी पुराना है, वही कभी नया था और जो अभी नया है वह पुराना होने को आबद्ध है। लेकिन, सत्य न तो पुराना होता है, न नया। वह तो बस है—अजाना और अनाम। उसके लिए शाश्वत, सनातन जैसी संज्ञा भी पूरी नहीं पड़ती। हाँ, सत्य की अभिव्यक्तियाँ भिन्न होंगी और काल-प्रवाह में नई-पुरानी होती रहेंगी। इन अभिव्यक्तियों का ही जन्म-मरण है, सत्य का नहीं।

जीवन और धर्म का सर्वथा एक नया आयाम है यह जो भगवान श्री के हाथों अनावृत हो रहा है। क्योंकि आइन्सटीन ने समय को चौथा आयाम कहा, इसलिए हम इसे पाँचवाँ आयाम भी कह सकते हैं। समाज से किसी भी तल पर बँधे हुए लोग उसे नहीं समझ सकते, यद्यपि उसका उद्घोष उनके लिए ही हो रहा है। वह हमारे लिए अज्ञात ही नहीं, रहस्यमय और अविश्वसनीय भी है।

युग-युग से कवियों ने इसी रहस्यमयता की ओर इशारा किया है। हजार-हजार घूँघटों के भीतर उसका सौन्दर्य छिपा है। और जो उन घूंघटों को उठाकर उनके दर्शन कर लेता है, वह भी रहस्यमय और अविश्वसनीय ही हो जाता है।

ऐसे रहस्यमय रजनीश को उनके जन्मदिन पर प्रणाम।

●

जिन खोया :
तिन पाया

(भगवान श्री की श्री किशोरीरमण टंडन से एक अंतरंग वार्ता)

संकलन : मा योग क्रांति

टन्डन जी : ऐसी कौनसी घटना थी जिसने आपको आध्यात्म की तरफ मोड़ दिया ? वो कौनसा चमत्कार था ?

भगवान श्री : नहीं कोई घटना नहीं । ऐसा होता है बहुत बार कि कोई घटना होती है तब कोई आदमी मुड़ता है । और बहुत बार ऐसा भी होता है कि बहुत सी घटनाओं का इकट्ठा परिणाम होता है । और इसलिए कोई मुड़ जाता है । मेरी जिन्दगी में कोई ऐसी घटना नहीं जिसने मुझे एकदम से मोड़ दिया हो यानी जिसको मैं कह सकूं ये मोड़ रहा । बल्कि ऐसी बहुत सी घटनायें हैं जिसका इकट्ठा परिणाम कब मोड़ बन गया, उसको तय नहीं किया जा सकता । और आध्यात्म की तरफ मैं कभी मुड़ा ऐसा भी नहीं मालूम पड़ता । मुड़ा हुआ ही था । यानी ऐसा मुझे कोई भी दिन याद नहीं आता जब मैं उस तरफ नहीं सोच रहा था । जब से मुझे स्मरण आता है तभी से उस तरफ सोच रहा हूं । फिर बहुत सी घटनायें घटीं जिनका इकट्ठा असर विचारणीय है । कोई एक घटना नहीं ख्याल में आती । साधारणतया ऐसा होता है कोई एक बहाना ही चित्त को एकदम मोड़ जाता है । मेरी समझ ये है कि एक घटना से मुड़ा हुआ चित्त वापिस भी लौट सकता है; लेकिन बहुत सी घटनाओं का इकट्ठा परिणाम अगर मोड़ता हो तो वापिस लौटना संभव नहीं हो सकता; क्योंकि वो आपके ज्यादा गहरे, पोर-पोर में प्रविष्ट हो गई घटना होती है । आपको एक धक्के से भी मोड़ा जा सकता है । लेकिन उसी तरह फिर एक धक्के से आपको वापिस भी लौटाया जा सकता है । और एक धक्के में मुड़ना एक तरह की प्रतिक्रिया है । हो सकता हैं आप पूरी तरह तैयार भी न हुए हों और मुड़ जायें । और जब धक्के का असर समय के साथ कम हो जाय, तो आप वापिस लौट आयें । लेकिन अगर जीवन का प्रतिपल

धीरे-धीरे, धीरे-धीरे ऐसी जगह पहुंचा दे जहां आप खुद ही ऐसा तय न कर सकें कि मैं कब मुड़ा और पहुंच गया, तो वापिस लौटना संभव नहीं रह जाता क्योंकि फिर वह आपकी श्वास-श्वास का हिस्सा हो जाता है।

लेकिन पहली स्मृति जो मेरे मन में वह स्मरण करने जैसी लगती है—वो मृत्यु की है। उस दिन क्या सोचा था वह तो आज कहना मुश्किल है। फिर भी मेरा बचपन तो नाना-नानी के घर बीता और मेरा पहला लगाव भी उन्हीं से था। पिता और मां के पास तो बचपन में रहा नहीं; क्योंकि मेरी मां मेरे नाना की अकेली लड़की थीं। और वो बड़े अकेले थे, नानी और वो दोनों ही थे। तो मैं पहला लड़का था उनको लड़की का तो मुझे वो ही पालना चाहते थे। तो मैं बचपन में सात साल तो उन्हीं के पास था। उन्हीं को मैंने पिता-मां की तरह जाना। और वे बहुत सम्पन्न थे, बहुत सुविधा थी उनके पास, तो शाही ढंग से ही उन्होंने मुझे पाला था। तो मेरा तो इधर मां और पिता से सम्बन्ध ही उनकी मृत्यु के बाद हुआ। मैं सात साल का था तब वो चल बसे और उनका चल बसना मेरे लिए पहली स्मृति है, जो मूल्यवान है; क्योंकि मैंने उनको ही प्रेम किया और उनसे ही प्रेम पाया। उनका चल बसना भी बड़ा अजीब-सा था क्योंकि जहां वे रहते थे वो हमारे गांव से कोई बत्तीस मील दूर छोटा गांव है। न वहां कोई डॉ० था,न कोई वैद्य। उन पर मृत्यु का जो पहला हमला हुआ उस हमले में उनकी वाणी चली गई। उन्होंने बोलना बंद कर दिया। २४ घंटे गांव में प्रतीक्षा की कि कुछ हो जाए; पर कुछ नहीं हो सका। उनकी वह तकलीफ मुझे याद रह गई है कि वो बोलना चाहते हैं बोल नहीं सकते थे। कुछ कहना चाहते हैं कह नहीं सकते थे। और उनको लेकर हमें बैलगाड़ी से चलना पड़ा, क्योंकि उसके सिवा कोई उपाय ही नहीं था। बैलगाड़ी से लेकर हम उनको चले और धीरे-धीरे उनकी एक-एक इन्द्रिय विदा होती गई। वो इकट्ठे नहीं मरे, बहुत धीरे-धीरे मरे। पहले उन्होंने बोलना बंद कर दिया फिर सुनना भी। और फिर उन्होंने आंख भी बंद कर ली। बैलगाड़ी में मैं उनके साथ में हूं। और ये ३२ मील का रास्ता है और मेरी समझ के सब कुछ बाहर है कि ये सब क्या हो रहा है। ये मृत्यु मेरे लिए पहली है और मुझे पता भी नहीं कि वो मर रहे हैं। लेकिन धीरे-धीरे उनकी एक-एक इन्द्रिय खोती गई। अन्ततः उनका होश भी चला गया। नगर आते-आते वो बिल्कुल जिन्दा-मुर्दा हो गये। वे जिन्दा थे। बस सांस चल रही थी, किंतु बाकी सब खो गया था। फिर वो होश में नहीं आये। ३ दिन वे जीवित थे वैसे। फिर उसी बेहोशी में मर गए। मेरी स्मृति में उनका वह इस तरह धीरे-धीरे, धीरे-धीरे खो जाना बहुत महत्वपूर्ण हो गया क्योंकि

उनसे मेरा लगाव था। उन्हीं से मेरा सम्बन्ध था। मेरे लिए वही थे और उनके खो जाने के बाद उतना लगाव फिर शायद मेरा किसी से भी नहीं हो सका।

उसके बाद फिर मैं अकेला ही था। एकाकीपन (लोनलीनेस) की जो प्रतीति है वह मुझे सात साल में ही पकड़ ली। फिर एकाकीपन मेरा स्वभाव हो गया। उनकी मृत्यु मुझे सदा के लिए सभी सम्बन्धों से मुक्त कर गई। उनकी मृत्यु मेरे लिए आसक्ति की ही मृत्यु थी। फिर किसी से ही मैं वो मोह-सम्बन्ध नहीं जोड़ पाया। और जब भी मेरा किसी से लगाव बनने के करीब हुआ तो मौत मेरे सामने खड़ी हो गई। यानी फिर निरंतर जिससे भी मेरा लगाव बना, मैंने जाना आज नहीं कल वो भी मर सकता है। और एक बार मृत्यु का बोध बहुत स्पष्ट हो जाय, तो उसी मात्रा में लगाव की संभावना कम हो जाती है। यानी हमारा लगाव बनता ही इस आधार पर है जब हम मृत्यु को सामने से हटा देते हैं। और जिसको भी हम प्रेम करते हैं हम मान के ही चलते हैं कि मरना अनिवार्य नहीं है। इसलिए हम 'प्रेम अमर है' इत्यादि बातें कहते हैं। वो हमारी मान लेने की वृत्ति है कि जिसे हम प्रेम करते हैं वो नहीं मरेगा। लेकिन मेरे लिए प्रेम के साथ मृत्यु अनिवार्य रूप से जुड़ गई। यानी मैं मृत्यु के बोध के बिना प्रेम ही नहीं कर सकता हूं। इसलिए जिसको मोह कहें, लगाव कहें वो असम्भव हो गया। मित्रता हो सकती है, करुणा हो सकती है; लेकिन वो जो मोह है वो फिर मुझे नहीं पकड़ सका। इतने गहरे तल में मृत्यु पकड़ गई साफ रूप से और फिर वो धीरे-धीरे रोज स्पष्ट होती चली गई। और जितना सोचा उतनी स्पष्ट होती चली गई।

तो मेरे लिए जिसको हम जीवन की विक्षिप्तता कहें वो कभी नहीं आ पाई। वो मृत्यु जीवन की दौड़ के पहले ही खड़ी हो गई। उस घटना को पहली घटना मान ले सकते हैं, जिसने स्मृति पर काफी प्रभाव छोड़ दिया। और तब उस दिन से प्रति-दिन, प्रति-पल जीवन के बोध के साथ-साथ मृत्यु का बोध भी अनिवार्य रूप से हुआ है। यानी तब से होना और न होना बराबर मूल्य के हो गये हैं। और उस छोटी उम्र में अगर अकेलापन पकड़ ले—एक उमर में तो पकड़ता है—लेकिन साथ को जानने के पहले ही अकेलेपन ने पकड़ लिया तो फिर सबके साथ रहा हूं—सबके साथ हूं; लेकिन अकेला हूं— भीड़ है तो— समाज है तो— मित्र हैं तो— प्रियजन हैं तो, लेकिन वे मुझे छूते नहीं हैं। मैं अस्पर्शित रह जाता हूं। और वो जो अकेलेपन का पहला आभास था, वो जैसे-जैसे गहरा हुआ वैसे-वैसे एक नई घटना घटनी

शुरू हुई। पहली बार तो यह दुखद ही मालूम पड़ा, पहली बार तो वो दुखद ही था अकेलापन; लेकिन धीरे-धीरे वो सुखद होता चला गया। क्योंकि जब हम किसी दूसरे से जुड़ते हैं तो किसी न किसी भांति में हम अपने से मुंह मोड़ लेते हैं। असल में दूसरे से जुड़ने की जो वृत्ति है—वो स्वयं से भागने का ही उपाय है। और जितना ही दूसरा महत्व पूर्ण होता चला जाता है—उतना ही दूसरा केन्द्र बन जाता है और हम परिधि हो जाते हैं। और फिर पूरे जीवन हम दूसरे को केन्द्र बनाकर ही जीते हैं। स्वयं केन्द्र नहीं बन पाते। लेकिन मेरे लिए दूसरे का केन्द्र बनना जीवन के पहले चरण में ही टूट गया। जीवन जैसे होश में आया वो दूसरे का केन्द्र बनना ही टूट गया। मेरा पहला केन्द्र ही बिखर गया और टूट गया। और अपने पर लौट आने के सिवाय् कोई मार्ग ही न रहा। यानी जिसको कहें—'थ्रो न बेक'—यानी वापिस अपने पर फेंक दिया गया, वही होने के सिवाय कोई रास्ता न रहा। धीरे-धीरे वो सुखद होता चला गया। इसलिए पीछे तो मुझे ऐसा लगने लगा कि उस छोटी उम्र में ही मेरे अत्यंत निकट मृत्यु की घटना मेरे लिए सौभाग्य बन गयी। शायद बड़ी उम्र में वो मृत्यु होती तो मैं जल्दी से दूसरा—परिपूरक (सब्स्टीट्यूट) खोज लेता।

लेकिन जितना कच्चा और निर्दोष मन हो, उतना ही—जिसे हम प्रेम करते हैं—उसकी जगह दूसरे को रखना असंभव और कठिन होता है। जितना चालाक चित्त हो जाता है, कनिंग और 'केलकुलेटिव' हो जाता है, उतनी जल्दी हम एक की जगह दूसरे को रखने का उपाय करने लगते हैं। और जितनी जल्दी दूसरे को रखलें उतनी जल्दी पहले की झंझट से मुक्त हो जाते हैं। वो संभव नहीं था उस दिन और मेरी अपनी समझ ऐसी है कि बच्चे कभी भी 'सब्स्टीट्यूट' नहीं खोज पाते; अगर उनका एक प्रिय पात्र खो जाये तो वो जगह खाली रह जाती है, उस जगह को भरना बहुत मुश्किल हो जाता है। जितनी बड़ी उम्र हो उतनी जल्दी उस जगह को हम भर सकते हैं। सोच सकते हैं, विचार कर सकते हैं। विचार जल्दी से भर लेता है; लेकिन भाव जल्दी से नहीं भर पाता। विचार जल्दी से अपने को समझा लेता है; लेकिन हृदय जल्दी से अपने को नहीं समझा पाता। और जब विचार की क्षमता ही न हो सिर्फ हृदय की ही क्षमता हो एक उम्र में, तब बहुत कठिनाई हो जाती है। तो फिर कभी दूसरा मेरे लिए महत्वपूर्ण नहीं हो सका। इस अर्थ में महत्वपूर्ण नहीं हो सका कि वो मुझे मुझसे बचा सके। और फिर मुझे अपने ही साथ जीना पड़ा और ये जो अपने साथ जीना था, ये पहले तो दुख की तरह ही मालूम हुआ था, लेकिन धीरे-धीरे इसने नये सुख की अनुभूति देना

शुरू कर दी। और उसके बाद मुझे कोई दुख नहीं आया यानी उसके बाद मैं कभी दुखी ही नहीं हुआ; क्योंकि दुख का जो कारण था वही फिर संभव नहीं हुआ। दुख का कारण ही दूसरे से बंधना है। दुख का कारण ही दूसरे से अपेक्षा है। दुख का कारण ही दूसरे से सुख मिलने की आशा है। मिलता वो कभी नहीं, आशा ही रहती है और बार-बार आशा टूटती है—फ्रस्टेशन होता है। और जितनी टूटती है उतना ही दुख ले आती है। तो पहली बार ही मैं दूसरे से इस बुरी तरह निराश हो गया कि दुबारा मैंने प्रयास ही नहीं किया। वो दिशा मेरे लिए बंद हो गई और इसलिए उसके बाद मैं दुखी नहीं हुआ। मेरे दुख के उपाय ही टूट गये। और तब एक बहुत नये ढंग का सुख मिलना मुझे शुरू हुआ, जो दूसरे से नहीं आता। दूसरे से सुख आ ही नहीं सकता, दूसरे से सिर्फ सुख की आशा हो सकती है और दुख का फल मिल सकता है। और ठीक इससे उल्टी हालत है स्वयं से पहली बार मिलने पर उस प्राथमिक स्व-मिलन में पहले दुख ही प्रतीत होता है; लेकिन मिलते ही जाने पर सुख मालूम होने लगता है।

दूसरे से मिलने पर पहली बार सुख प्रतीत होता है। मिलते ही जाने पर दुख प्रतीत होने लगता है। दूसरे का मिलन, पहले क्षण में सुख है, अंतिम परिणाम में दुख है। स्वयं से मिलन पहले क्षण में दुख की भांति ही मालूम पड़ता है; लेकिन अंतिम क्षण में सुख होता चला जाता है। और इसलिये स्वयं पर फेंक दिया जाना—मेरी दृष्टि में, आध्यात्म की तरफ गति हो जाती है। वो किस भांति हम स्वयं पर फेंके जाते हैं, यह दूसरी बात है। जिन्दगी बहुत मौके देती है स्वयं पर फेंके जाने के; लेकिन जितने हम होशियार होते हैं उतनी जल्दी हम उस मौके से बचते हैं। फिर अपने से बाहर लौट जाते हैं। यदि मेरी पत्नि मर जाये तो मैं जल्दी से दूसरी पत्नि की तलाश में लग जाता हूं। अगर मेरा मित्र खो जाये तो मैं दूसरा मित्र बनाने लगता हूँ। मैं नई मित्रता की तलाश में दीवाना हो जाता हूँ। खाली जगह मैं जरा भी नहीं छोड़ता। और वो खाली जगह छोड़ने में जो अवसर मिल सकता था—अपने पे लौट जाने का, वो थोड़ी ही देर में खत्म हो जाता है—उसकी तीव्रता क्षीण हो जाती है।

मैं फिर दूसरे में रसलीन हो जाता तो अवसर खो सकता था आत्म यात्रा का; लेकिन ये नहीं हो पाया और इसका न होना पहली घटना बनी और इसके बाद तो फिर घटनाओं पर घटनायें बनती चली गईं; क्योंकि एक तो मैं थोड़ा अजूबा हो गया—थोड़ा 'स्ट्रेन्ज' हो गया, क्योंकि वही उम्र है जबकि हम दूसरे से संबंधित होते हैं—वही उम्र है जब हम समाज में प्रवेश करते हैं—वही उम्र है जब समाज हमें दीक्षित करता है अपने में लेने के लिए। लेकिन मैं कभी

समाज में दीक्षित नहीं हुआ। हो ही नहीं सका। मैं कभी समाज में प्रविष्ट नहीं हुआ। मैं गया भी तो व्यक्ति की हैसियत से और अलग-थलग एक 'आइलेंड' ही रहा। एक द्वीप हो गया। मुझे कभी याद नहीं पड़ता कि मैंने किसी से मित्रता बनाई, मुझसे मित्रता बनाने वाले बहुत लोग थे। मुझसे बहुत लोगों की मित्रता बनी और मुझसे मित्रता बनाना उन्हें आनंदपूर्ण भी हुआ; क्योंकि मुझसे शत्रुता बनाने का उपाय भी न था, लेकिन मैंने कभी किसी से मित्रता बनाई हो यह मुझे याद ही नहीं आता। मैं अपनी तरफ से कभी किसी को मित्र बनाने गया हूँ यह भी मुझे याद नहीं आता। हाँ, कोई मुझ पर आ ही पड़ा है वो बात दूसरी। ऐसा नहीं कि मैंने मित्रता का स्वागत नहीं किया, किसी ने मित्रता बनाई तो मैंने पूरी तरह स्वागत किया। लेकिन फिर भी मैं मित्र नहीं बन सका। मैं सदा दूर ही खड़ा रहा हूँ।

तो बहुत छोटे में, छोटे से स्कूल में पढ़ते हुए भी, मैं अलग-अलग था। न किसी शिक्षक से मेरा संबंध बना, न किसी साथी से, न किसी पढ़ने वाले से ऐसा संबंध जो मुझे डुबा ले और मेरा 'आइलेन्ड' होना टूट जाय वैसा कोई संबंध नहीं हो सका। मैं अनेकों से मिला। मित्र भी बना। साथ भी रहा। बहुत मेरे मित्र थे। लेकिन मेरी तरफ से ऐसा कुछ भी न था जो मैं उन पर निर्भर हो गया होऊं या वे कल खो जायें तो मैं लौट के उनकी याद करूं। बड़े मजे की बात है कि मुझे कभी किसी की याद नहीं आती। कोई मिलता है तो मैं उसे बहुत प्रेम करता हूं। लेकिन मुझे कभी किसी की याद नहीं आती। यानी कि मैं बैठ के किसी की याद करूं या सोचूं या ऐसा सोचूं कि फलां व्यक्ति मिलता तो बहुत सुखद होता। नहीं ऐसा नहीं होता है। कोई मिलता है तो खूब सुख होता है। लेकिन न मिलने से मुझे कभी दुख नहीं होता। और इस परम सुख के लिए मैं उस मृत्यु को ही कारण मानता हूं। उस मृत्यु ने मुझे मुझ पर फेंक दिया। वापिस फिर मैं वहां से कभी नहीं लौटा। और ये जा अजनबी, ये जो 'आउट साइडर' होने की दशा है कि मैं सबके बीच रहकर भी बाहर खड़ा रहा हूं। इससे अनुभूतियों का एक नया आयाम मुझे मिला। मैं स्वयं के साथ जीने लगा। मैं स्वयं में पर्याप्त होने लगा। मैं एक जगत हो गया। और इससे एक बहुत अजीब अनुभव मुझे होने लगा, जो एक पीड़ा भी बन गया। यद्यपि अत्यंत सुखद पीड़ा। वह यह कि मैं उस छोटी उम्र में ही एक तरह की प्रौढ़ता, एक तरह की 'मेच्योरिटी' स्वयं में अनुभव करने लगा। इस प्रतीति में अहंकार नहीं था, फिर भी व्यक्तित्व तो था ही और इसने अनेक तकलीफों में भी डाला; जैसे कि मैं कभी किसी को गुरुजन न मान सका। यद्यपि शिष्य बनने को मैं सदा

तैयार था। पर गुरु कहूं ऐसा कोई मिलता ही नहीं था। जीवन में ही जो लिप्त थे और जिन्हें कभी मृत्यु के दर्शन ही न हुये थे वे गुरु हो भी कैसे सकते थे। आदर देना चाहता था, पर नहीं दे पाता था। नदियों को दे पाता था, पहाड़ों को, पत्थरों को भी—पर मनुष्यों को नहीं। यह बड़ी तकलीफ की बात थी। ये बड़ी अड़चन में डालने वाली बात थी।

कोई शिक्षक मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि उसे गुरु का आदर दें। क्योंकि ऐसा ही मुझे कभी नहीं लगा कि कोई ऐसी बात है कि जो वो सच ही जानता है, और जिसके जाने बिना जीवन सार्थक नहीं है। बल्कि कई दफे ऐसा भी लगता कि शिक्षक भी बहुत बचकाने हैं क्योंकि वे ऐसी बातें कह रहे हैं और ऐसे काम कर रहे हैं जो कि मैं भी न करूंगा--मैं भी न कह सकूंगा, वे, वे बातें कर रहे हैं, वे काम कर रहे हैं। तो मुझे कभी भी ऐसा नहीं लगा कि मैं एक छोटा बच्चा हूं और किसी की शरण जाऊं, किसी को गुरु बनाऊं। नहीं गया ऐसा नहीं। गया। बहुत लोगों के पास गया, लेकिन सदा खाली हाथ वापिस लौट आया और मुझे लगा कि यह—सब तो मैं ही जानता हूं। ये सब तो मैं भी जानता हूं। इसमें कुछ ऐसा नहीं है कि जिसे किसी ओर से जानने की आवश्यकता है। कठिनाइयां भी थी इसकी क्योंकि दूसरों को मैं बहुत बार ऐसा लगता कि अहंकारी हूं। स्वाभाविक था उनको लगना, क्योंकि किसी को मैं कभी आदर नहीं दे पाया, कभी किसी की आज्ञा नहीं मान पाया। उन्हें ऐसा भी लगा कि बगावती हूं, विद्रोही हूं, अविनीत हूं। एक उम्र तक मेरे घर के लोगों को, मेरे शिक्षकों को, मेरे बड़े जनों को, सभी को मैं अविनीत, विद्रोही, बगावती, अहंकारी ही लगता रहा और उन्होंने कभी मुझसे आशा नहीं बांधी कि मैं किसी काम का कभी साबित हो सकता हूं। क्योंकि जिन बातों पे उन्हें कभी संदेह न था मुझे संदेह था। जिन बातों पे उन्होंने सहज विश्वास किया था मैं कभी विश्वास न कर सका। जिनके सामने वे निरंतर हाथ जोड़के सिर झुकाये थे मैं कभी हाथ भी न जोड़ सका। मुझे कभी ऐसा लगा ही नहीं। और धोखा मैंने स्वयं को नहीं दिया। और पाखंड या 'हिपोक्रेसी' नहीं सीखी। श्रद्धा नहीं थी तो नहीं थी। उसे मैंने भी आरोपित नहीं किया। उसका दिखावा नहीं किया।

तो इसकी तकलीफ भी हुई। इसकी परेशानी भी हुई, लेकिन इसका फायदा भी हुआ। फायदा ये हुआ कि दूसरे ढंग से मैं फिर--'थ्रो-बेक'—स्वयं पर फेंक दिया गया। चूंकि मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि सत्य किसी अन्य से सीखा जा सकता है। तो एक ही रास्ता रह गया कि मुझे अपने से ही सीखना पड़े। चूंकि मुझे कभी ऐसा नहीं लगा कि कोई गुरु है, तो एक ही

रास्ता रह गया कि मैं ही शिष्य हूं और मैं ही गुरु हूं। और जब मुझे ऐसा न लगा कि किसी को मैं अंधा होके मान लूं तो फिर एक ही रास्ता रह गया कि अपना विवेक खोजूं। अंधेरा रास्ता है। रास्ते का कोई पता नहीं है। कोई आगे नहीं है, कोई बताने वाला नहीं जिसके पीछे मैं चल सकूं। खुद ही चलना है। तो इसके परिणाम मुझे तो कीमती हुए। और सबसे बड़ी कीमत तो ये हुई कि रास्ता बनाना पड़ा, अपना विवेक खोजना पड़ा और हर चीज में अपना निर्णय लेना पड़ा। किसी का सहारा लेने का कोई मार्ग नहीं रह गया था। तो दूसरे अर्थों में मैं फिर वापिस अपने पे फेक दिया गया। और ये अपने पे फेक दिया जाना और भी कीमती सिद्ध हुआ। और चूंकि कभी किसी पर विश्वास नहीं आया इसका —

ये मतलब नहीं कि किसी पे अविश्वास रखा। ये नहीं। ऐसा नहीं कि किसी के प्रति अवज्ञा रखी। और ये भी नहीं कि किसी के प्रति अनादर रखा। लेकिन आदर नहीं आ सका और एक खालीपन रह गया और इस सबका स्वाभाविक परिणाम भी हुआ कि संदेह मजबूत होता चला गया और ऐसी कोई बात न मिली जिस पे कि संदेह न किया जा सके। सभी बातों पे संदेह होता था।

ये जो वृत्ति थी, तो जब मैं पढ़ने लिखने लगा तो उसमें भी काम पड़ी। चाहे गीता पढ़ूं, चाहे कुरान, चाहे बाईबिल, चाहे बुद्ध, चाहे महावीर वो संदेह मेरे साथ था सदा। कभी ऐसा नहीं हो सका कि कृष्ण को इतने ऊपर रख लूं कि अपने संदेह को मार डालूं। संदेह सदा साथ था। और इसलिए कोई अंधापन किसी की भक्ति और किसी का अनुगमन, वो कोई भी नहीं हो सका। इसका आखरी परिणाम जो होना था वो हुआ। वो ये हुआ कि मैं बिल्कुल ही निर्णयहीन, बिना किसी 'कन्क्लूजन' के संदेहों और संदेहों से प्रश्नों और प्रश्नों से भरा रह गया, कोई उत्तर नहीं था। उत्तर थे तो दूसरों के थे और दूसरों के उत्तरों पर मुझे भरोसा नहीं था। दूसरे का उत्तर मेरे लिए एक ही काम करता था कि और दस नये प्रश्न खड़े कर जाये। ये दूसरे के उत्तर से इससे ज्यादा मुझे कभी नहीं हुआ कि उसने दस नये प्रश्न और मुझे खड़े कर दिये। दूसरे के उत्तर ने एक ही मुझे सहारा दिया कि मुझमें और नये प्रश्नों को जन्मा गया। बाकी दूसरे का कोई उत्तर मेरे लिये उत्तर नहीं हुआ। तो पहली दफा तो मेरी बड़ी ही खतरनाक हालत हो गई। क्योंकि बिना किसी निष्पत्ति—'कन्क्लूजन'—के जीना—बिना किसी निष्कर्ष के—बिना किसी लक्ष्य के जीना बड़ी असुरक्षित स्थिति थी। एक इंच आगे का मुझे पता नहीं। क्योंकि वो पता तो दूसरे से ही हो

सकता है। जहां तक मैं चला हूं वहां तक तो मुझे पता होगा। जहां मैं चला ही नहीं वहां तो मुझे आपसे—किसी और से ही पता हो सकता है। और तब मेरे लिये कोई मार्ग नहीं बचा तो आगे घुप अंधेरा हो गया। और अगला कदम भी उठा रहा हूं तो अंधेरे में ही उठा रहा हूं—निष्कर्षहीन, लक्ष्यहीन ये बड़ी बेचैनी की और तनाव की स्थिति थी, असुरक्षा की भी, खतरे की भी। और दूसरी इस स्थिति में तो जो प्रियजन मेरे थे, निकट के लोग थे, वो समझते थे कि बगावती है विद्रोही है। धीरे-धीरे इस स्थिति में हालत ये हो गई कि लोग सोचते कि कहीं मैं पागल न हो जाऊं; क्योंकि पागल होने जैसी बात ही थी।

छोटी-छोटी बात पे संदेह आ गया, संदेह ही संदेह रह गया। प्रश्न ही प्रश्न रह गये, कोई उत्तर न रहा। और एक तल पर तो मैं बिल्कुल पागल ही हो गया था। मुझे भी कभी-कभी डर लगने लगा कि अब मैं कभी भी पागल हो सकता हूं। नींद मेरी खत्म ही हो गई। बिल्कुल रात सो न सकूं। रात भर प्रश्न हैं। दिन भर प्रश्न हैं। और किसी प्रश्न का कोई उत्तर नहीं। एक अथाह सागर में पड़ गया हूं जहां कोई किनारा नहीं, कोई नाव नहीं; क्योंकि जितनी नावें थीं उनको तो मैंने स्वयं इंकार कर दिया था। नावें तो बहुत थीं और मल्लाह भी बहुत थे; पर उनको इंकार मैंने अपने हाथ से कर दिया था। और मैं राजी भी नहीं हूं किसी की नाव पर चढ़ने को; क्योंकि मुझे ऐसा लगने लगा कि डूब जाना भी अपनी तईं अच्छा है, बजाय किसी की नाव पे चढ़ने के। और यदि यही जीवन है कि डूब ही जाना है तो डूब जाने को स्वीकार कर लेना चाहिए। लेकिन बड़े अंधकार की—बड़े गहन अंधकार की—जैसे अंधे कुए में गिर जाने की हालत थी। और उन दिनों मैंने कई बार ये सपना देखा, जैसे कि बहुत अंधकारपूर्ण कुए में गिरता हूं, गिरता ही जाता हूं, गिरता ही जाता हूं। और कहीं कोई नीचे तल नहीं आता। 'बाटमलेस पिट' है। और बहुत बार पसीने से तर-बतर सपने से उठा हूं। क्योंकि वो खत्म ही नहीं होता कुआ और उसमें कहीं कोई नीचे जगह ही नहीं आती जहां पैर लग जायें। बस गिरना, गिरना, गिरना और अंधेरा और अंधेरा और अंधेरा और गिरना इसके सिवाय और कुछ भी नहीं है। लेकिन धीरे-धीरे मैं इसके लिये राजी हो गया। पहले तो बहुत बार ऐसा हुआ कि कुछ मान लूं, कुछ पकड़ लूं, कोई उत्तर स्वीकार कर लूं; लेकिन वो मेरे अनुकूल ही नहीं था, वो मेरी प्रकृति में पड़ा ही नहीं कि उसे पकड़ लूं। तो नहीं पकड़ सका और तब अनिवार्यरूपेण विचार के लिए मेरे भीतर जगह न

वो कभी नहीं सोच सकते थे कि मैं और अध्यात्मिक—वह उनके सोचने के बाहर की बात थी; क्योंकि जिस-जिस को वो अध्यात्म कहते थे, उसी-उसी से मैं लड़ पड़ता था। जिसको वो पूजा कहते थे वो मेरे लिये अर्थहीन—'नानसेन्स' थी। जिसको वो संन्यासी कहते थे वो मेरे लिये भगोड़ा था। जिसको वो धर्म शास्त्र कहते थे वो मेरे लिये साधारण किताब थी जिस पर मैं लात रखके खड़ा हो जाता था, सिर्फ इसीलिये खड़ा हो जाता कि वो उस पे सिर रखते थे। जिन-जिन बातों को वो कहते थे कि ये संदेह के बाहर हैं उन सबको मैं संदेह में घसीट लाता था। उनका परमात्मा, उनकी आत्मा, उनका मोक्ष, सब मेरे लिये बात-चीत करने और आनन्द लेने के साधन थे। उनकी गंभीरता मुझे बचकानी मालूम पड़ती। उनके भगवान के सामने हाथ जोड़े बैठे होने पर मैं हंस सकता था—उनको हिला भी सकता था। वो सब मुझे इतना 'चाइल्डिश' मालूम पड़ता कि उनकी कल्पना में भी मैं नहीं हो सकता था कि मैं और कभी अध्यात्मिक भी हो सकता हूं। ये वो सोच ही नहीं सकते थे।

और जो उस समय ही मर गये और जिन्होंने मुझे बाद में नहीं जाना वो अगर आज लौट आयें तो वो मुझे नहीं पहचान सकते कि मैं वो आदमी हूं। वो नहीं पहचान सकते, वो नहीं मान सकते; क्योंकि जो-जो उनके लिये धर्म था, उसे मैं निपट अधर्म मानता था। उनके मन में तो मैं एक नास्तिक था। और घोर नास्तिक था। मेरे घर के लोग, मेरे मित्र, मेरे प्रियजन, मेरे साथी उन सबके लिए मैं महानास्तिक था। इसलिए आज कोई अगर २०–२५ वर्ष बाद मुझे अचानक मिल जाता है तो वो बड़ा चौंकता है। ऐसा भी हुआ है कि जो मेरे साथ उन दिनों नास्तिक हो गये थे, वो भी अभी कभी मिल जाते हैं तो वो बड़ी मुश्किल में पड़ जाते हैं; क्योंकि वो अब भी नास्तिक हैं।

अभी ऐसा हुआ कि मैं एक गांव गया हुआ था और मेरे साथ पढ़ते थे एक युवक वो तब मेरी वजह से ही नास्तिक हो गये थे। वो अभी तक नास्तिक हैं तो वो तो बहुत घबड़ा गये। उन्होंने कहा—आप कह क्या रहे हैं, हम तो उसी को ठीक माने चले जा रहे हैं। तो मुझे तो पता भी नहीं था कि ये जो है ये अध्यात्म में ले जायेगा। और मैं मानता भी नहीं हूं कि पता होके कोई अध्यात्म में जा सकता है; क्योंकि अध्यात्म है अज्ञात। पता करके कोई जायेगा कैसे! अध्यात्म कोई मंजिल तो नहीं है। जिसका हम पक्का ठिकाना करलें और चले जायें। फिर जो ठिकाना पक्का करेगा वो गैर-अध्यात्मिक आदमी तय करेगा अध्यात्म के संबंध में और गैर-अध्यात्मिक

अध्यात्म के संबंध में तय कैसे कर सकता है ? और गैर-अध्यात्मिक मन जो भी तय करेगा वो गैर-अध्यात्मिक होगा। इसलिये मेरी समझ ये है कि अध्यात्म को कोई मंजिल नहीं बना सकता। और कोई जानके वहां नहीं जा सकता है। हां, ऐसा हो जाता है कि कोई गैर-अध्यात्म में जीते-जीते, जीते-जीते परेशान हो जाय और गैर-अध्यात्म टूटने लगे, बिखरने लगे। अध्यात्म नहीं आ जायगा, गैर-अध्यात्म टूटेगा। गैर-अध्यात्म बिखरेगा, मिटेगा और एक दिन वो अचानक पाये, जैसे कि वो आदमी नंगा खड़ा रह गया है। वस्त्र गैर-अध्यात्म के गिर गये। और चौंक के वो देखे कि अरे ! ये तो कुछ और हो गया, ये तो कोई नयी बात हो गई। जिसको अध्यात्म कहते हैं, वो घटित हो गया। तो अध्यात्म एक 'हेपनिंग' एक अनायोजित घटना है, एक 'अचीवमेंट', एक आयोजित उपलब्धि नहीं। कोई पहुंच नहीं सकता, कदम-कदम रखकर कोई सीढ़ियां चढ़के वहां। लेकिन गैर-अध्यात्म में जीते-जीते, जीते-जीते गैर-अध्यात्म टूट सकता है। यानी मैं ये कहता हूं कि ज्ञान मंजिल नहीं बनती, अज्ञान टूट सकता है और जिस दिन अज्ञान टूट जाता है उस दिन जो शेष रह जाता है—'दि रिमेनिंग'—वो ज्ञान है।

और ऐसी मेरी दृष्टि सब चीजों के सम्बन्ध में है। कोई हिंसक अहिंसक नहीं हो सकता क्योंकि हिंसक कैसे अहिंसक होगा और अगर हिंसक अहिंसक होने की चेष्टा करेगा तो उसकी चेष्टा में भी हिंसा होगी। हिंसक ही है वो आदमी और अगर चेष्टा करके अहिंसक हो भी गया तो उसके भीतर हिंसा पूरी तरह खड़ी रहेगी। उसके अहिंसक होने में भी पूरी तरह हिंसा होगी। और वो अहिंसा से भी हिंसा का उपयोग करेगा। नहीं हिंसक अहिंसक नहीं हो सकता। हां, ये हो सकता है कि हिंसक हिंसा से परेशान, पीड़ित, दुखी और इतना मुश्किल में पड़ जाय हिंसा से कि एक दिन छलांग लगा जाये। जैसे कि कोई सांप को रास्ते पर देखकर छलांग लगा ले, या घर में आग लग जाये और एक आदमी घर के बाहर हो जाये। ऐसी हिंसा इतनी पीड़ा दे दे, इतना संताप दे दे कि हिंसक होना असंभव हो जाये, कुछ टूट जाये भीतर, बिखर जाये भीतर, और वो आदमी अचानक पाये कि मैं अहिंसक हो गया। तो अहिंसक होना एक हेपनिंग है, एक 'प्रोसिस'—एक प्रक्रिया--नहीं, जिसमें कि कोई कदम-कदम चलेगा; क्योंकि कदम-कदम कौन चलेगा ? वो हिंसक चलेगा और कदम-कदम हिंसा चलके अहिंसा तक कैसे पहुंचेगी ? चोर कितने ही कदम उठाये वो चोर के कदम होंगे इसलिए वो अचौर्य तक नहीं जा सकता और झूठा कितने ही कदम उठाये वो झूठे के कदम होंगे इसलिए वो

सत्य तक नहीं पहुंचा सकते। वो तो झूठ गिर जाये तो आदमी जहां अपने को पायेगा वो सत्य है।

इसलिए जीवन का जो भी महत्वपूर्ण है—परम जिसको हम कहें वो कोई भी हमारे प्रयास से उपलब्ध नहीं होता। तो मुझे तो कभी पता ही नहीं था यानी पता ही उस दिन चला जिस दिन हो गया। और तब भी मैं ये नहीं समझ पाया कि ये जो हो गया यह अध्यात्म है। ये भी एकदम से नहीं समझ पाया। कैसे समझता क्योंकि 'रिकग्नीशन'—प्रत्यभिज्ञा—पहचान—तो उसी की हो सकती है जिसे हम पहले से ही जानते हैं। आप आये, तो मैंने कहा, टन्डन जी हैं; क्योंकि मैं कल आपको जानता था। मैं कल आपको जानता ही नहीं था, और आप आये तो परिचय ही होगा, प्रत्यभिज्ञा नहीं, 'एक्वेंटेंस' होगा, 'रिकग्नीशन' नहीं। प्रत्यभिज्ञा तो होगी ही कैसे ? तो अध्यात्म को मैं पहचान भी नहीं पाया जब वह घटित हुआ। इतना ही हुआ कि कुछ नया हो गया जो नहीं था। इतना ही हुआ कि जो था वो अब नहीं है और जो हो गया है ये कभी भी नहीं था। परिचित होने में भी मुझे वक्त लग गया। परिचय ही हुआ, पहिचान ही करनी पड़ी कि ये क्या हो तुम ? कौन हो तुम? और-और यह पहचान बहुत अजीब थी; क्योंकि यह पहचान किसी दूसरे से न थी, यह पहचान अपने से ही थी। कोई आया नहीं था जिसको हम पहचान लें; बल्कि कोई था जो चला गया था। और अब ये जो शेष रह गया था, ये बिल्कुल अपरिचित था और इसको पहचानना था। फिर भी ये पहचान कभी पूरी नहीं हो पाती है; क्योंकि ये रोज नया हो जाता है। इसलिए जब तक हम पहचान पाते तब तक यह नया हो जाता। और, यही इस आत्मज्ञान की अनंत यात्रा है। अंतहीन। अनादि। अपरिसीम।

अध्यात्म कोई 'डेड एंन्ड' नहीं, परम अंत है। एक मरा हुआ अंत नहीं है, बल्कि एक सरित-प्रवाह है, जिसमें—रोज किनारा बदल जाता है, रोज नये वृक्ष आ जाते हैं, नये पहाड़ आ जाते हैं, नये चांद तारे दिखाई पड़ने लगते हैं। इसलिए कल जिसको हम पहचान लेते हैं वह फिर आज खो जाता है। इसलिए कभी अध्यात्म में ऐसा नहीं हो सका कि कोई कहे कि मैं पहुंच गया। ऐसा कभी कोई नहीं कह सकता कि हां, पहुंच गया। हो लिया। आ गया। पा लिया। इस भाषा में कोई नहीं बोले, बोले अगर कोई तो पहुंचा नहीं, जाना नहीं। हम अध्यात्म में उतरते भर हैं पहुंचते कभी भी नहीं। क्योंकि वह अनंत है। एक आदमी सागर में उतर जाता है। इतनी तो खबर दे सकता है कि वह उतर गया है, तट छूट गया है, लेकिन ये खबर नहीं दे सकता है कि सागर मिल गया है; क्योंकि नया तट मिलता नहीं, सागर ही है। तो

अध्यात्मिक व्यक्ति पहुंचने की खबर नहीं लिख सकता, 'अचीव्हमेंट' की बात नहीं कर सकता; इतना ही कह सकता है कि पुराना अब न रहा। और अब जो हो रहा है वो रोज नया है प्रतिपल नया है, नया ही नया है और इसलिये कल के लिए हम कुछ भी नहीं कह सकते कि कल क्या हो जायेगा! क्योंकि कल जो था, वो आज नहीं है; आज जो है वो अभी बिखरा जा रहा है। ये जो अनंत जीवन है, यह जो प्रतिपल नया हो जाता और कभी बासा नहीं—यही अध्यात्म है और इसको न हम कभी पाने की कोशिश कर सकते न हम कभी पा लेते हैं। इसलिये जो कहे कि पा लिया, उसने नहीं पाया होगा। और जो कहे कि पाता चला जा रहा हूं, पाता चला जाता हूं और कभी भी नहीं पा पाता हूं—पूरा पा लूंगा तब भी कहूंगा, अभी पूरा शेष रह गया है—उसने ही पाया है। सत्य है ऐसा कि सदा शेष रह जाता है और सदा मिला हुआ मालूम भी पड़ता है। इसलिये हमारी सब भाषा गड़बड़ हो जाती है। और लक्ष्य बनाके जो लोग चलते हैं और बहुत लोग चलते हैं, वे कभी नहीं पहुंचते हैं। अभी एक व्यक्ति आया और उसने कहा कि मैं आपसे पूछने आया हूं कि मैं संन्यासी हो जाऊं। तो मैंने कहा—"जब तक तुम्हें किसी से पूछने जैसा हो तब तक मत होना, तब तक होना ही मत; क्योंकि जब तक किसी से पूछने जैसा लगे तब तक एक बात पक्की है कि संन्यास नहीं आया है। और संन्यास कभी लेना मत; क्योंकि लिया नहीं जा सकता। किसी दिन आ जायेगा और तुम अचानक पाओगे कि वो आ गया। अब वह आदमी नहीं है अब तक जो था।" तो उसने कहा कि लेकिन संन्यास तो लिया जाता है। तो मैं मानता हूं, जो लिया जाता है वो झूठा है। अध्यात्म जो ओढ़ा जाता है वो झूठा है। अध्यात्म जिसे पाने की कोशिश की जाती है वो झूठा है। लेकिन जो है जीवन, मृत्यु, घृणा, हिंसा, दुख, पीड़ा, चिन्ता जो है—वह भी हमारा-लिया हुआ नहीं है— वह भी आया है। उसे हम जियें पूरी तरह जियें और उसके पूरे तरह जीने से ही 'ट्रान्सेंडेंस'—अतिक्रमण शुरू होता है। जितना हम उसे पूरा जीते हैं उतना ही हम पाते हैं कि हम पार जा रहे हैं, हम पार जा रहे हैं। करीब-करीब ऐसा है, जैसे कि कोई आदमी नदी में डूब रहा है, डूब रहा है। वो कोशिश करे बचने की तो शायद डूब भी जाय, लेकिन वो कोशिश ही न करे, वो कहे—जब डूब ही रहा हूं तो पूरा डूब जाऊं। और पूरा डूब जाये और तलहटी में पहुंच के पाये कि ऊपर लौटना शुरू हो गया है। जो डूबने के लिए पूरा तैयार है वह उबर जाता है। और जो डूबने से डरता है और तड़फड़ाता है वह अक्सर डूब जाता है। इसलिए मुर्दे तो पानी पर तैर जाते हैं और जिन्दे पानी में डूब जाते हैं। अब मुर्दे की एक ही कुशलता है कि वो कुछ कर नहीं सकता, तो वो पानी के ऊपर आ जाता है।

तो, मैं तो मुर्दे की तरह पानी के ऊपर आया। मैं कुछ करके नहीं आया, मुझे पता भी नहीं था कि कहां जा रहा हूं। मुझे आज भी पता नहीं है कि कहां जा रहा हूं और अब तो सवाल भी नहीं रखता हूं कि कहाँ जा रहा हूं। अब तो जहां जा रहा हूं वह मंजिल है और जहाँ पहुंच जाऊं वहीं पहुंचना था। अब न कोई लक्ष्य है। अब न कोई पाना है। अब न कोई तैरना है। अब न कोई खोज है। पर ये मोड़ की तरह नहीं आया, नहीं तो मुझे लेना पड़ता। यानी मैंने कभी नहीं लिया मोड़ और ऐसी भी कोई घटना नहीं कही जा सकती जिसने पहुंचा दिया। बहुत घटनायें इकट्ठी होती चली गईं, होती चली गईं; कुछ बात हो गई। अब मुझे ऐसा लगता है कि किसी के जीवन में होगा तो कुछ बात ही होगी तो ही हो सकता है। और दुनिया में अध्यात्म एक झूठ हो गया है। वो झूठ इसलिए हो गया है--कि दुनिया में लोग उसे ग्रहण कर रहे हैं। जिसे हम ग्रहण करते हैं वो हमसे बड़ा नहीं होगा। मैं ग्रहण करूंगा न ? तो वह मुझसे ज्यादा--मुझसे श्रेष्ठ--और मुझसे विराट कैसे होगा ? जो आता है, वह हमें ग्रहण नहीं करना होता है। जो आता है, वह तो तभी आता है जब हम नहीं होते हैं। किसी अर्थ में जहां हम खो जाते हैं, नहीं होते हैं उसी क्षण कुछ उतर आता है जिसे अध्यात्म कहें--सत्य कहें-- परमात्मा कहें और जो भी नाम हम देना चाहें, दें। इसलिये जिन्हें भी मिला है उन्हें लगा है कि परमात्मा का प्रसाद है। उसका कुल कारण इतना ही है कि अपना प्रयास नहीं है। उसकी 'ग्रेस'--प्रसाद--है। ऐसा नहीं है कि उसकी 'ग्रेस' से मिल रहा है। लगता है ऐसा; क्योंकि हमारा तो कोई प्रयास नहीं है।

इसलिए मैंने तो कहना ही शुरू कर दिया कि हम नहीं खोज सकते हैं। परमात्मा को हम खोजेंगे भी कैसे ? जिसका हमें कोई पता ठिकाना नहीं मालूम, जिसे हम पहचानते नहीं, जिसे हमने जाना नहीं--उसे हम खोजेंगे कसे ? और यदि हम जानते ही हैं, पहचानते ही हैं तब खोजने की कोई जरूरत ही नहीं है। तो मैं नहीं खोज सकता, मैं तो खोज करते-करते मिट जाऊं तो वह मुझे खोज ले। वह मुझे जानता है। वह मुझे भली भांति पहचानता है। और शायद वह मुझे अभी भी पाया ही हुआ है। लेकिन मैं हूं कि भाग रहा हूं, दौड़ रहा हूं। भाग रहा हूं, दौड़ रहा हूं, और अभी थक नहीं गया हूं। अभी भाग-दौड़ से ऊब नहीं गया हूं। तो वह प्रतीक्षा करेगा और जब मैं थक जाऊंगा, गिर जाऊंगा तो जहां गिरूंगा वहीं उसकी गोद है।

To

THE BELOVED

BHAGWAN SHRI RAJNEESH JI

Kindly

Accept my sincere love and Pranam.

It is my sincere acknowledgement that 11th December will be remembered like a red-letter day in the history of human-race. At present, He is the greatest single influence to save the world and entire humanity. The disturbed world is more secure in His ideology. May His influence prevails in every part of the world and save us from the devastation and distorted visions.

Yours ever-

R. H. PATEL,

Petl: d (Kaira, Guj.)

संन्यास का आवाहन

●

युग-पुरुष राजर्षि आचार्य श्री रजनीश समय की आवश्यकता के अनुसार राष्ट्र को अभिनव क्रांति दे रहे हैं। उनके कार्यक्रमों में हम राष्ट्रहित तथा मानव-कल्याण की सभी बातें स्पष्ट रूप से पाते हैं। उन्होंने अध्यात्म पर पुनर्विचार, अनुसन्धान एवं नव-सृजन की योजनायें प्रस्तुत की हैं। सांप्रदायिकता जैसी राष्ट्र घातक प्रवृत्ति एवं धर्म के नाम पर होने वाले अधार्मिक क्रिया-कलापों को समाप्त करने का एकमेव उपाय यही है कि आचार्य श्री के नव-संन्यास आन्दोलन में हम भाग लें।

स्वराज्य प्राप्ति के बाद अब शेष बातों की पूर्ति भोगियों से नहीं—योगियों—संन्यासियों से ही संभव होगी। आइए अपने प्यारे भारत की सर्वोच्च समृद्धि की रक्षा हेतु इसे वर्त्तमान युग का रूप देकर संन्यास के पावन स्वरूप को बचालें। संन्यास में प्रवेश करें। सत्य की खोज करें।

'जीवन है मात्र उपन्यास,

संन्यास है मोक्ष का शिलान्यास।'

शुभकामनाओं सहित :

स्वामी स्वराज्यानंद समर्थ,

केंप : बावई, व्हाया : इटारसी (म. प्र.)

पूज्य भगवान श्री रजनीश जी के

४१ वें जन्म दिवस पर

अनेक शुभ-कामनाओं सहित

●

Phone : 3226 (Estd. 1907) Gram : AGENT.

दालीआ जेठालाल बापुलाल

(अनाज के थोक व्यापारी व कमीशन एजेंट)

वाडी, बड़ौदा–१ (गुजरात) W. Rly.

"प्रभु-प्यास की अभीप्सा जगाने वाले पूज्य

भगवान श्री रजनीश जी को उनके

४१वें जन्म–दिवस पर कोटिशः प्रणाम।"

पी सिद्रामः

महात्मा गांधी रोड, सांगली (महा०)

"जीवन का आनंद जीने वाले की दृष्टि में होता है। वह आप में है। वह अपने अनुरूप होता है। क्या आपको मिलता है, उसमें नहीं, कैसे आप उसे लेते हैं, उसमें ही वह छिपा है।"

—भगवान श्री रजनीश

भगवान श्री के ४१ वें जन्म-दिवस पर प्रभु-प्रसाद एवं अमृत-आलोक के शुभाकांक्षी :

स्वामी सत्य बोधि सत्व,

C/o डायकेम कार्पोरेशन,
खड़िया चार रास्ता,
अहमदाबाद—१

प्रभु-अनुकम्पा

यह सूचित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि भगवान श्री के ४१ वें जन्म-दिवस '११ दिसम्बर १९७१' पर ४१ ग्राम भार के चांदी के सिक्के निकाले जा रहे हैं जिनमें भगवान श्री का उभरा हुआ चित्र तथा संदेश 'Love is God' (प्रेम ही प्रभु है) अंकित होगा और प्रत्येक सिक्का ५१ रु. में प्राप्त किया जा सकता है। प्रेमीजन अग्रिम शीघ्र भेज दें जिससे कि न मिलने की अवस्था में उन्हें निराश न होना पड़े; क्योंकि सिक्के सीमित मात्रा में निकाले जा रहे हैं।

संपर्क सूत्र : **—मा योग लक्ष्मी**

सचिव, भगवान श्री रजनीश
ए-१, वुडलेंड, पेड्डर रोड,
बम्बई-२६ (फोन : ३८२१८४)

परमात्म प्रकाश प्रेमी पिपासुओं में
अमृत ज्योति जगाता रहे :

प्रस्तुत हैं भगवान श्री रजनीश की अमृत वाणी की नवीन पत्र–पत्रिकायें

(१) पाक्षिक पत्र : **योग दीप** (मराठी में)

संपादक : श्री गोपीनाथ तलवलकर
मा आनंद वंदना (वंदना पुंगलिया)

प्रकाशक : श्री माणिकचंद जी बाफना,
१०१, टिम्बर मार्केट, जीवन जागृति केन्द्र, पूना–२. फोन २४१४८

(प्रथम कृति २५ नवम्बर को प्रकाशित)

(2) ENGLISH BI-MONTHLY MAGAZINE

'S A N N Y A S'

Single Copy Rs. 4.00, Annual Subscription Rs.18.00

COMING ON DEC. 11, 1971

Enroll yourself as a Memb

(Contact : Ma Yoga Laxmi,
A-1, Woodlands, P dar Road,
Bombay : 26
Phone 382184.)

रजनीश, तू है मसीहा .....!

'नीश तू है मसीहा रहा है सदा
कोई छोटा बड़ा ना तेरे सामने
तूने रहमत लुटाई न देखा कभी
कौन आकर झुका है तेरे सामने
'नीश तू है मसीहा ...!

हाथ पसारा किसी ने किसी ने नहीं
तूने खुशियों से सबकी है झोली भरी
कोई हिन्दू न मुस्लिम न ईसाई हैं
सिर्फ इन्सान हैं सब तेरे सामने
'नीश तू है मसीहा ...!

जिन्दगी भर गुनाहों में जो भी जिया
उसने इकबाल सब तेरे दर पे किया
दे सहारा उठाया उसे भी तूने
जो कभी ना झुका था तेरे सामने
'नीश तू है मसीहा ...!

आरजू है यही इल्तिजा है यही
माफ करना अगर भूल कर दूं कभी
एक अदना-सा मैं भी हूं बंदा तेरा
हाथ जोड़े खड़ा हूं तेरे सामने
'नीश तू है मसीहा ...!

—'आकुल' राजेन्द्र

युक्रान्द

भगवान श्री रजनीश जन्म-दिवस
विशेषांक